ा।

।

ुण्योंकी सच्ची
क रु.।

एक ईश्वरकी
ीयवार मुद्रित)
सच्ची शांतिका
ीयवार मुद्रित)

ा।

ाने।

ने।

(३) ३३ देवताओंका विचार। मू. ≡) तीन आने।
(४) देवता विचार। मू. ≡) तीन आने।

[३] योग-साधन-माला।

(१) संध्योपासना। योग की दृष्टिसे संध्या करनेकी प्रक्रिया इस पुस्तकमें लिखी हैं। मू. १॥) (तृतीयवार मुद्रित)
(२) संध्याका अनुष्ठान। मू. ॥) आठ आने।
(३) वैदिक-प्राण-विद्या। (प्राणायाम-पूर्वार्ध) मू १) रु.
(४) ब्रह्मचर्य। मू. १।) सवा रुपया।
(५) योग साधन की तैयारी (मू. १)
(६) आसन (सचित्र) मू–२)
(७) सूर्य भेदन व्यायाम मू.–॥)

योग-साधन-माला । ग्रंथ ४

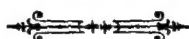


ब्रह्मचर्य ।

अथर्ववेदके ब्रह्मचर्य सूक्तकी व्याख्या ।

(ब्रह्मचर्यसाध[illegible]के अनुभवसिद्ध उपाय ।)

(सचित्र)



लेखक और प्रकाशक ।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा.)

द्वितीय वार १०००

संवत् १९८३, शके १८४८, सन १९२६.

मुद्रकः-रा. चिंतामण सखाराम देवळे, मुंबईवैभव प्रेस, सर्व्हंट्स्
ऑफ इंडिया सोसायटी, गिरगांव, मुंबई ४.

प्रकाशकः-श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्यायमंडळ,
औंध (जि. सातारा.)



ब्रह्मचारी की विभूति।

यह ब्रह्मचारी सूक्त (अथर्व. ११।५ में) कई दृष्टियोंसे अत्यंत महत्वपूर्ण है। ब्रह्मचर्याश्रमका महत्व, उसका गौरव, ब्रह्मचारीके कर्तव्य और धर्म, आचार्यके कर्तव्य और गुणधर्म, जनताका ब्रह्मचारीके साथ संबंध आदि अनेक विषयोंका ज्ञान इस सूक्तके अध्ययनसे प्राप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त इस सूक्तके अध्ययनसे एक बडा भारी लाभ हो सकता है; वह यह है कि, इस सूक्तमें वैदिक प्रतिपादनकी शैली सुस्पष्ट रीतिसे व्यक्त होगई है। इसलिये इस दृष्टिसे जो विद्वान् इस सूक्तका अध्ययन करेंगे, वे विषय प्रतिपादन की वैदिक शैलीसे अभिज्ञ हो सकते हैं। यद्यपि यह सूक्त छोटासा है तथापि उक्त शैली इस सूक्तमें अत्यंत स्पष्ट होगई है। इस लिये पाठकोंसे निवेदन है, कि वे इस दृष्टिसे इस सूक्तका अध्ययन करें।

(१) ब्रह्मचारीका भाव।

" **ब्रह्मचारी** " शब्द क्या भाव बताता है, इसका अब विचार

करना है । " ब्रह्म " और " चारी " ऐसे दो शब्दविभाग इस " ब्रह्म+चारी " शब्दमें हैं । इस प्रत्येक पदका अर्थ देखिये—

' ब्रह्मन् ' शब्दका अर्थ—परब्रह्म, वेदमंत्र, वेदका सूक्त, पवित्र मंत्र, वेद, ओंकार, ब्राह्मण, ब्रह्मकी शक्ति, ज्ञानशक्ति, ज्ञान, तप, धर्माचरण, पवित्रता, मुक्ति, स्वतंत्रता, धर्मज्ञान, धन, जल, अन्न, सत्य, आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, भक्त, उपासक, सूर्य, बुद्धि, मननशक्ति, शक्ति, महत्व, बडापन ।

" बृह्, बृंह् " धातुसे " ब्रह्म " शब्द बनता है । उक्त धातुका अर्थ—बढना, वृद्धि करना, उन्नति करना, प्रगति करना, विकास करना, व्यापना, है । इसलिये " ब्रह्म " शब्दका अर्थ—" वृद्धि, बधाई, फैलाव, प्रसार, उन्नतिसे युक्त, प्रगति संपन्न, विकसित, व्यापक " इत्यादि प्रकार होता है ।

" **चारी** (चारिन्) " शब्दका अर्थ—" चलनेवाला जाने-हारा, हलचल करनेवाला, जीवनके लिये यत्न करनेवाला, प्रयत्नशील पुरुषार्थी, उत्साहके साथ प्रयत्न करनेवाला, " इत्यादि होता है । ये सब अर्थ ध्यानमें धरनेके पश्चात् " **ब्रह्मचारी** " शब्दका अर्थ निम्न प्रकार विदित हो सकता है ।—

' **ब्रह्मचारी** ' शब्दका अर्थ—(१) ज्ञानकी वृद्धिके लिये यत्न करनेवाला, (२) वेदके प्रचारके लिये कार्य करनेवाला, (३) पवित्र होनेके लिये उद्योग करनेवाला, (४) सत्यकी निष्ठामें व्यव-हार करनेवाला, (५) बुद्धिका विकास करनेका यत्न करनेवाला,

(६) धन अन्न आदिकी वृद्धि करनेवाला, (७) तप करनेवाला, (८) ईश्वर की भक्ति करनेवाला, (९) ब्रह्मकी शक्ति अपने अंदर धारण करनेवाला, (१०) स्वतंत्रताके लिए पुरुषार्थ करनेवाला। ये तथा और भी अनेक अर्थ इस शब्दके होते हैं, पाठक पूर्वोक्त अर्थोंका मनन करके इस शब्दके अन्य अर्थ जान सकते हैं।

इस शब्दके अनेक अर्थ देखनेसे और मनन पूर्वक उनकी संगति लगानेसे " **ब्रह्मचारी की विभूति** " का पता लग सकता है। जहां जहां ब्रह्मचारीका भाव होगा वहां वहां ब्रह्मचारीकी विभूति होती है। इस विषयमें थोडीसी विभूतियाँ देखिये—

(२) ब्रह्मचर्यका विभूति योग।

पहिला ब्रह्मचारी—सबसे मुख्य और पहिला ब्रह्मचारी परमात्मा है। क्यों कि वह ब्रह्मके साथ साथ रहता है। यहां ब्रह्म शब्दके " ज्ञान, मंत्र, ब्रह्मशक्ति, पवित्रता, मुक्ति, अमरपन, स्वतंत्रता, सत्य " ये अर्थ लेना योग्य है। परमात्मा इस लिये ब्रह्मचारी है, कि वह ज्ञान आदिके साथ ही रहता है, अर्थात् ज्ञान आदि गुण उससे पृथक् नहीं किये जा सकते। (ब्रह्मणा ज्ञानादिना सह चरतीति ब्रह्मचारी परमात्मा ईश्वरः) इसका वर्णन विश्वव्यापक दृष्टिसे निम्न मंत्रोंके भागोंमें पाठक देख सकते हैं—

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥ स दाधार पृथिवीं दिवं च ॥१॥

" ब्रह्मचारी परमात्मा पृथिवी और द्युलोकमें संचार करता है

अर्थात् व्यापक होता है, उसमें सब देव एक मनके साथ रहते हैं, उसने पृथिवी और द्युलोक का धारण किया है।

इसी सूक्तके दूसरे मंत्रमें कहा है कि—" इसके साथ सब देव, पितर, गंधर्व और देवजन आदि अनुकूल हो कर चलते हैं।"

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि—" यह ब्रह्मचारी पृथिवी और द्युलोक की दो समिधाओंसे अंतरिक्षकी पूर्णता करता है।" तथा पंचम मंत्रमें कहा है—

तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे
अमृतेन साकम् ॥ ५ ॥

" उस (परमात्मा) से श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञान और अमृतके साथ सब देव बन गये हैं।" इस ब्रह्मचारी की भिक्षा—

इमां भूमिं पृथिवीं भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च॥
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि
विश्वा ॥ ९ ॥

" इस पहिले ब्रह्मचारीने पृथिवी और द्युलोक की भिक्षा प्राप्त की और वह उनकी समिधा बनाकर यज्ञ कर रहा है। इन्ही दोनों लोकों में सब भुवन हैं' इस मंत्रमें " **प्रथमः ब्रह्मचारी** " ये शब्द परमात्माके विषयमें ही सार्थ होते हैं। दूसरे किसी ब्रह्मचारी के विषयमें गौण अर्थसे ही लग सकते हैं। मंत्र १० और ११ में क्रमशः कहा है कि,–(१)" पृथिवीपर तथा स्वर्गमें दो कोश रखे हैं, उनका संरक्षण यह करता है।" तथा (२) " उक्त दो स्थानों में दो

अग्नि रखे हैं, उनके किरण बीचमें प्रकाशित होते हैं और उस प्रकाश का अधिष्ठाता यह ब्रह्मचारी (अर्थात् परमात्मा) है।"

इन मंत्रोंका मुख्य विषय "**परमात्मा**" में ब्रह्मचारीकी विभूति देखना ही है। मुख्य आदर्श ब्रह्मचारी यह परमात्मा ही है। इन मंत्रोंके ब्रह्मचारी विषयक जो जो गौण अर्थ होते हैं, वे आगे दिये ही हैं; वहां पाठक देख सकते हैं। यहाँ इतना ही दिखलाना है, कि विश्वव्यापक दृष्टि से इन मंत्रोंका भाव परमात्मविषयक ही विशेषतया है। सच्चा पूर्ण और आदर्श ब्रह्मचारी वही परमात्मा है, उसकी अंश-रूप विभूतियां स्थानस्थानपर हैं। पृथिवी और द्युलोक का धारण करना, अपने वीर्यप्रभावसे संपूर्ण लोकलोकांतरोंका धारण और पोषण करना, तथा विश्वव्यापक समिधाओंसे "**विश्वरूप महायज्ञ**" की पूर्ति करना; यह कार्य निःसंदेह पूर्ण ब्रह्मचारी परमात्माका ही है। परमात्मा यजमान और अग्नि आदि सब देव ऋत्विज हैं, ये सब मिल कर इस सृष्टिके महान् यज्ञ में हवन कर रहे हैं, ऐसा वर्णन वैदिक सारस्वतमें कई स्थानोंमें है; उस विषयका यहां अनुसंधान करनेसे उत्तम संगति लग सकती है। अस्तु, इस प्रकार ब्रह्मचारी परमात्माका वर्णन इस सूक्तके अंदर पाठक देख सकते हैं। यह आधिदैविक दृष्टि है।

ब्रह्मचारी मेघराज—मेघ, अभ्र, पर्जन्य, जिससे वृष्टि होती है, वह भी ब्रह्मचारी ही है "**ब्रह्म**" शब्दका यहां मेघ विषयमें "जल" अर्थ है। जलके साथ संचार करनेके कारण मेघ का नाम ब्रह्मचारी अर्थात् "**जल-संचारी**" है। इसका वर्णन इस ब्रह्म-

चर्य सूक्तके १२ वें मंत्रमें आता है, वहां कहा है कि—" बडी गर्जना करनेवाला नस्वारी काले रंगका जलसंचारी मेघ पहाड़ोंकी चोटियों पर तथा भूमिके पृष्ठ भागपर जलकी वृष्टि करता है, जिससे चारों दिशायें जीवित रहतीं हैं । "

पाठक यहां पूछेंगे कि ब्रह्मचर्यके सूक्तमें मेघके वर्णनका क्या संबंध है ? यह प्रश्न बिलकुल ठीक है । साधारण ग्रंथोंमें ब्रह्मचर्यका वर्णन करते करते मेघका वर्णन नहीं हो सकता, परंतु वेदकी शैली अत्यंत भिन्न होनेसे उसमें आ सकता है, और उसका हेतु भी है । जहां जहां ब्रह्मचर्यकी विभूति होगी, उन सबका वर्णन वेदके ब्रह्मचर्यसूक्तमें होगा ।

मेघ ब्रह्मचारी है इसके कई कारण हैं । यह तप करता है । जब मेघ आकाशमें आजाते हैं तब बहुतर्हा तपिश, गर्मि, उष्णता, तपनेकी घबराहट होती है । जब इस प्रकार मेघ स्वयं तप करने लगता है, तब सब जगत्को उसके तपके कष्ट भोगने पड़ते हैं । वह ब्रह्मचारीभी है क्यों कि (ब्रह्म) जल का वह धारण करता है और उस जलके साथ संचार करता है । यह मेघ " **ऊर्ध्व–रेता** " भी है, यहां ' **रेतस्** ' शब्दका अर्थ " उदक " है । " ऊर्ध्व–रेताः, ऊर्ध्व–जल " अर्थात् ऊपर जलका धारण करनेवाला मेघही है । संस्कृतमें " **ऊर्ध्व–स्रोतस्** " शब्दका भी यही अर्थ है । यह मेघ हमेशा अपना वीर्यरूपी जल नहीं गिराता परंतु वर्षाऋतुमें ही गिराता है । इस हेतुसे यह " **ऋतु–गामी** " है । अपने वर्षाऋतुमेंही समयपर अपना वीर्य पहाड़ों और भूमियोंपर गिराता है ।

इसके ऋतुकालके इस गर्भाधानसेही सब वृक्षवनस्पतियां, तथा धान्य आदि भी पृथिवीके गर्भसे बन जाते हैं। पर्जन्यका पिता होना वेदमें अन्यत्र कहा है, देखिये—

माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः। पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥ अथर्व. १२।१।१२

"मैं पुत्र हूं, भूमि मेरी माता है और पर्जन्य पिता है वह हम सबका पालन करे।" यह पिता ऋतुकालमें ही (रेतका आधान) वृष्टि करता है, उससे मातृभूमि गर्भवती होती है। वर्षाऋतु आनेतक वसंत ग्रीष्म आदि समयमें यह मेघ तप करता रहता है। इस प्रकार ब्रह्मचारीके गुणधर्मोंका और मेघका साम्य है, इसलिये ब्रह्मचारीकी एक विभूति "**मेघ**" है। उक्त गुणोंके अतिरिक्त शब्द करना, जनताका पालन पोषण करना, सब जगत्के संरक्षणके लिये अपने आपका बलिदान देना आदि गुणभी मेघमें हैं, उनके समान गुण वक्तृत्व, परोपकारके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण, जनताका हित करनेका भाव आदि ब्रह्मचारीमें बढाने योग्य हैं। इस प्रकार गुणोंका साम्य देखकर पाठक इस विभूतिका तत्व जान सकते हैं।

ब्रह्मचारी संवत्सर—वर्षका नाम संवत्सर है। यह वर्ष किंवा साल, संवत् ब्रह्मचारी ही है। क्योंकि यह "**ऋतु—गामी**" है। वसंत ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमंत और शिशिर इन छः ऋतुओंके साथ संवत्सर चलता है। ऋतुओंके साथ गमन करनेका धर्म इस प्रकार वर्षमें है! गृहस्थी ऋतुगामी होनेसे ही ब्रह्मचारी रह सकता है, इसी प्रकार संवत्सर भी ऋतुगामी होनेके कारण ही ब्रह्मचारी है। यहां "**ऋतु—गामी**"

शब्दके दोनों स्थानोंमें भिन्न भाव हैं, परंतु काव्यकी दृष्टिमें दोनोंकी एकवाक्यता होती है। वेदका काव्य कितनी उच्च प्रतिभासे युक्त है, इसकी यहां कल्पना हो सकती है। संवत्सरका नाम प्रजापति भी है, " **प्रजापति** " शब्द संतान पालन करनेके अर्थमें गृहस्थीपर भी लग सकता है। संवत्सरकी तपस्या वसंत ग्रीष्ममें होती है, वर्षाकालमें ऋतुकालानुरूप यह वीर्य प्रदान करता है और इसके पश्चात् उसकी प्रजा निर्माण होती है।

अहोरात्र ब्रह्मचारी हैं। क्योंकि ये दिन और रात्रि ऋतुओंमें ही संचार करते हैं। इनमेंसे कोई भी ऋतु छोडकर स्वैर बर्ताव नहीं करता। तथा ये " **सं–यमी** " भी हैं। " सं–यम " का अर्थ " उत्तम यम " ऐसा है। ' यम ' का अर्थ–' जोडा, जुडवां, यमक, ' है और ' इंद्रिय दमन ' भी अर्थ है। यहां दिन और रात्रिका सनातन युग्म है। इसी प्रकार दिन रात्रिका ब्रह्मचर्य है। इनका नाम " यम और यमी " वेदमें प्रसिद्ध है। इसपर यम यमी सूक्त ही है। इस प्रकार इनके यमी अथवा सं–यमी होनेमें शंकाही नहीं। इनका तप दिनके समयमें होता है।

ब्रह्मचारिणी ओषधियां—औषधियां ब्रह्मचारिणी रहती हैं। इनका ब्रह्मचर्य भी ऋतुकाल में पुष्पवती और तत्पश्चात् गर्भवती और फलवती होनेसे ही है। स्त्री को भी ऋतुप्राप्त होनेपर " **पुष्पवती** " कहते हैं। औषधिवनस्पतियोंके समानही स्त्रीभी पुष्पवती अर्थात् फूलोंसे युक्त होती है। इस प्रकार पुष्प आनेपर ही स्त्री गर्भ धारण करती है। इस रीतिसे स्त्रियों और वृक्षवनस्पतियों की ब्रह्मचा-

रिणी होनेमें समता है । वृक्षवनस्पतियां " ऊर्ध्व-रेता " होती हैं। अपनी जडोंसे रसोंको ऊपर खींचनेवाले वृक्षादि प्रसिद्धही हैं। इसी प्रकार मनुष्यभी ऊर्ध्व--रेता बनता है, अपनी गुदाके पासकी नस-नाडियोंको मनसे ऊपर खींचनेका अभ्यास करनेसे मनुष्यका रेत ऊपर चढता है। इसविषयमें इस पुस्तकमेंही अन्यत्र ऊर्ध्वरेता बन-नेकी पूर्ण विधि लिखी है। वहां उस विधिको विशेषरूपमें पाठक देख सकते हैं । यहां ध्यानमें रखनेकी बात यह है कि, वीर्यको ऊपर खींचनेका उपदेश वृक्षोंसे ही योगियोंको प्राप्त हुआ है।

ब्रह्मचारी पशुपक्षी—पशु और पक्षी ये भी योगी और ब्रह्मचारी हैं। ऋतुकाल के बिना प्रायः पशु अपनी स्त्रीके साथ व्यवहार नहीं करते । बहुधा सब पशु ऋतुगामी होते हैं । गर्भ रहनेपर कोई 'स्त्री-पशु' किसीभी 'पुरुष-पशु' को पास आने नहीं देती। इसप्रकार इनका संयम रहता है । "**अमोघ-वीर्य**" होनेकी सिद्धि इनको इसी कारण होती है । जहां वीर्य जाता है वहां अवश्य गर्भधारणा होती है । इन पशुओंसेही 'अमोघ-वीर्य' होनेकी शिक्षा योगियोंने ली है। योगकी अन्य सिद्धियां भी पशुप-क्षियोंमें स्वभावतः हैं, उनको देखकर योगी जन बहुत कुछ उप-देश प्राप्त कर सकते हैं। शीत उष्ण सहन करनेके तपका उपदेश उन्होंने ही अपने आचरणसे मनुष्योंको दिया है!! इसप्रकार ये सब जन्मसेही ब्रह्मचारी हैं।

संवत्सर, अहोरात्र, वृक्ष वनस्पति, औषधियां इनका वर्णन पाठक **मंत्र २०** में देख सकते हैं, तथा पशुपक्षियोंके ब्रह्मचारी होनेका

वर्णन मंत्र २१ में देख सकते हैं । मेघका वर्णन मंत्र १२ में है । इस प्रकार सब सृष्टिमें ब्रह्मचारीकी विभूति फैली है । इनके अतिरिक्त सूर्य, चंद्र, अग्नि, आदि देवोंके ब्रह्मचर्यके विषयमें जानना चाहिये । पाठक विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, इनमें ब्रह्मचर्य है, और ये ब्रह्मचारी हैं । इनसेभी बहुत बोध ब्रह्मचारीको लेना चाहिये ।

वेदके विषय प्रतिपादनकी शैलीका इस वर्णनमें पता लग सकता है। इतने सूक्ष्म संबंधसे विभिन्न पदार्थोंमें संगति देखी जाती है, इसका अनुभव पाठक यहां कर सकते है । साधारण दृष्टिसे ब्रह्मचारी, वृक्ष और मेघका कोई संबंध प्रतीत नहीं होगा; परंतु जिसके अंदर वैदिक दृष्टि विकसित हुई होगी, उसको वृक्ष, मेघ, वनस्पति, पशु, पक्षी आदिमें सर्वत्र ब्रह्मचर्यही ब्रह्मचर्य दिखाई देगा, और इसप्रकार सर्वत्र " **ब्रह्मचर्यके वायुमंडलका अनुभव** " करनेसे अंतमें वह परिपूर्ण ब्रह्मचारी बन सकता है । यही वैदिक दृष्टिका महत्त्व है । वैदिक कालमें इस प्रकार सार्वभौमिक दृष्टि थी । ऋषिमुनि इसी दृष्टिसे युक्त थे । आचार्य यही दृष्टि अपने शिष्योंमें उत्पन्न करते थे । एक समय यह दृष्टि उत्पन्न हो गई, तो फिर वेदका महत्त्व अन्य रीतिसे समझानेकी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी । अस्तु ।

(३) देवोंका अंशावतार ।

'**देव अपने अपने सूक्ष्म अंशोंसे इस कर्मभूमिपर अवतीर्ण हुये हैं,**' यह अंशावतारकी कल्पना इस सूक्तमें विशेष रीतिसे कही है । वेद और ब्राह्मण ग्रंथोंमें अन्यत्र यह कल्पना अनेक बार

और अनेक प्रकारसे कही है, परंतु इस ब्रह्मचारी-सूक्त में यह कल्पना विशेष स्पष्ट रीतिसे तथा वही वाक्य दुबारा तिबारा कह कर विशेष दृढता के साथ कही है। देखिये—

(१) तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥ १ ॥; ॥ ८ ॥

(२) तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ॥ २४ ॥

पहिला वाक्य इस सूक्तमें दोबार आगया है और उसी अर्थका दूसरा वाक्य इस सूक्तमें एकबार आगया है। " **उस ब्रह्मचारीमें सब देव अनुकूल मन के साथ रहते हैं।** " यह उक्त वचनोंका तात्पर्य है। यह एक ही बात इस एकही छोटे से सूक्त में तीनबार कही है। जो उपदेश बार बार कहा जाता है, उसमें विशेष महत्त्व रहता है। वेदकी दृष्टिसे जो बात अत्यंत महत्वकी है, वही वेदमें पुनः पुनः कही गई है। एकही मंत्र पुनः पुनः वेदमें आ जाता है, इसका यही भाव है। (वेदमें **पुनरुक्तिके महत्त्व** के विषयमें ' **एक ईश्वर उपासना** ' पुस्तक पृ. १८ देखिये) " **ब्रह्मचारी के अंदर सब देव रहते हैं** " यह उपदेश विशेष रीतिसे वेदको कहना है। कई अर्थ लिखनेवालोंको अपने शरीरमें देवताओंके निवासकी वैदिक कल्पना न समझनेके कारण उन्होंने इन वचनोंके " देव " शब्दका " दिव्य गुण " ऐसा अर्थ किया है, परंतु यह भ्रम ही है। यहां देव शब्दका अर्थ " दिव्य गुण " नहीं है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र आदि देव हैं, इनको कोईभी " दिव्य गुण " नहीं कहेगा। पृथिवी का अंश अपने शरीरमें है, इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु आदि देवोंके सूक्ष्म अंश हमारे शरीरमें हैं, इसी रीतिसे अन्य

देवोंके अंशभी हैं। सभी कहते हैं कि, यह स्थूल शरीर पांच भौतिक है, शरीरका पांचभौतिक होना ही सिद्ध करता है कि, इस शरीरमें पृथिवी आदि पांच भूतोंके किंवा पांचों देवताओंके अंश विद्यमान हैं। इनसे भिन्न विद्युत् आदि सब देवता भी अंशरूपसे इस शरीरमें रहते हैं। किसी एक देवताकी न्यूनता हो गई तो इसका बिगाड़ होता है। उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रंथोंमें यह बात विस्तारसे कही है। इतना होनेपर भी "**शरीर में सब देव रहते हैं**" इस वेद मंत्रका अर्थ करनेके समय "शरीरमें दिव्य गुण रहते हैं" ऐसा कई अर्थ लिखते हैं। किंवा "देव" शब्दका अर्थ "विद्वान्" समझकर "उसके साथ सब विद्वान सहमत होते हैं" ऐसाही केवल अर्थ करते हैं। यह सब भ्रम है और वेदका स्वारस्य न समझनेका यह परिणाम है। वेदको यहां कहना है कि, शरीरमें अग्नि आदि सब देव अंश रूपसे रहते हैं। "**शरीर रूपी मर्त्य घर बनाकर उसमें सब देव रहने लगे**" यह अथर्व वेद (११।८।१३) का कहना है। इस विषयके बहुत आधार इस सूक्तके प्रथम मंत्रके प्रसंगमें दिये, हैं पाठक वहां इस विषयको अवश्य देखें। तथा साथ साथ ये भी मंत्र देखिये—

(१) तस्मिन् देवाः सह दैवीर्विशन्तु ॥

अथ १२।३।१२

(२) तस्मिन् छ्यन्ते य उ के च देवाः ॥

अ. १०।७।१८

(३) अयं यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ताम् अथ. १८।३।५३

" (१) उसमें सब देव दैवीशक्तियों सहित प्रविष्ट हों। (२) जो कोई देव हैं वे सब उसमें आश्रय लेते हैं। (३) यह (शरीर रूपी) चमस है, इससे देव अमृतका पान करते हैं, इससे अमृत पीकर सब देव हर्षित हों। " इनमेंसे दूसरा मंत्र परमात्माके विषयमें विशेषतः है। परंतु जो देवादिकोंके संबंधकी व्यवस्था परमात्माके वर्णनमें आती है, वही अंशरूपसे अल्पप्रमाणमें जीवात्मामें घटती है। यह बात वेदमें सर्वत्र है। उदाहरणके लिये पंचमहाभूतोंकाही उदाहरण लीजिये। जगत्में जो पंचमहाभूत हैं वे परमात्माके आधारसे हैं, इसी प्रकार पंचमहाभूतोंके जो अंश इस शरीरमें हैं वे सब जीवात्माके आधारसे रहते हैं। सर्वत्र यही व्यवस्था होनेके कारण किसी स्थानपर परमात्माका वर्णन हो अथवा जीवात्माका वर्णन हो, उनका सामान्य अर्थ दोनों स्थानोंपर लगता है। इसी रीतिसे इस ब्रह्मचारी सूक्तके कई मंत्र जीवात्मापरमात्माका बोध करा रहे हैं, इसका कुछ वर्णन इस लेखमें पहिले बताया है, और शेष वर्णन सूक्तकी व्याख्यामें किया जायगा।

इस प्रकार शरीरमें देवताओंका अंशावतरण हुआ है और इस शरीरमें सब देव रहते हैं, यह वैदिक सिद्धांत निश्चित रीतिसे सिद्ध है। तथा--

देवाः पुरुषं आविशन्। अथर्व. ११।८।१३; १८, २९।

" **देव पुरुषमें घुसे हैं।** यह वाक्य अथर्व ११।८ में तीन बार आगया है। इस सूक्तमें तो मनुष्य शरीरका ही वर्णन है। तात्पर्य " **शरीरमें देवोंका प्रवेश हुआ है, और सब देव हमारे**

शरीरमें रहते हैं, इसमें कोई संदेहही नहीं है । तथा इस प्रकारके मंत्रोंमें " देव " शब्दका अर्थ " दिव्य गुण अथवा विद्वान् " नहीं है । परंतु " **अग्नि आदि देवोंके अंश** " यही अर्थ यहां है ।

" दिव्य गुण " ऐसा अर्थ करनेका तात्पर्य भी वही होता है । क्यों कि गुण गुणीसे पृथक् नहीं रह सकता, इसलिये यदि शरीरमें उष्णता है तो उसमें अग्निदेवका वास्तव्य निश्चयसे है, क्योंकि अग्निको छोडकर उष्णता नहीं रहती; इसी प्रकार अन्य दिव्य गुण जहां होंगे, वहां अन्य देव भी अवश्य ही होंगे, इसमें कोई संदेह ही नहीं है । तात्पर्य कि " **हमारा शरीर देवोंका नगर है, अथवा देवोंका मंदिर है** " इसमें कोई भी शंका नहीं ।

(४) देवोंका मन ।

इन देवोंका अलग मन भी है । अर्थात् अग्नि आदि प्रत्येक देवका अलग अलग मन है । इसी सूक्तमें कहा है कि--

" **तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥ १ ॥**

" उस ब्रह्मचारीमें देव (सं-मनसः) उत्तम मनके साथ अथवा अनुकूल मनके साथ होते हैं । " इस मंत्रके " **सं-मनसः देवाः** " ये शब्द अग्नि आदि देवोंको मन है, इस बातकी सिद्धि करते हैं । इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये---

ये देवा मनो-जाता मनो-युजो दक्षक्रतवस्ते
नोऽवंतु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा ॥ यजु. ४।११

" जो देव मनके साथ उत्पन्न हुये हैं, मनके साथ संयुक्त हैं, दक्षतासे कर्म करते हैं, वे हमारा रक्षण करें, वे हमारा बचाव

करें, उनके लिये यह अर्पण है। " अग्नि, पृथिवी, जल, आदि देवोंको मन हैं, यह बात दूसरी रीतिसे भी सिद्ध होती है, देखिये–

मूल प्रकृति	= दैवी प्रकृति	= जगत्की आदि माता।
महत्तत्त्व	= बुद्धितत्व	= जगद्व्यापक बुद्धितत्व। मन।
अहंकार	= ' मैं ' पन	= प्रत्येक पदार्थका व्यक्तित्व।
पंच तन्मात्र	= सूक्ष्म भूत	= पृथिवी, जल आदिके सूक्ष्म तत्व।
पंचमहाभूत	= स्थूल भूत	= पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश। स्थूल तत्व।

जगत्की उत्पत्तिका यह क्रम है, मूल प्रकृतिसे " महत्तत्त्व और अहंकार " प्रथम बने हैं। इनसे " मन बुद्धि चित्त अहंकार " यह अंतःकरण चतुष्टय बनता है। " अहं–कार " का अर्थ " (I–ness) **मैं–पन** " है। पाठक यदि जगत् में देखेंगे तो प्रत्येक पदार्थ में " **मैं–पन** " की सत्ता है, ऐसा उनको ज्ञान होगा। आमका वृक्ष लीजिये, उसके पत्ते, फल तथा अन्य आकार सब दुनियां भर एक जैसा है, इससे विदित होता है कि, आमके अंदर कितना ' **अहंकार** ' अर्थात् ' **मैं–पन** ' है। आमका वृक्ष किसी स्थानपर चला गया, तौभी अपना अहंकार छोडनेके लिये तैयार नहीं होता!! इसी प्रकार अन्य स्थावर जंगम पदार्थोंके अंदर " मैं–पन " है। कोई भी अपना " मैं–पन " (I–ness) छोड़नेके लिये तैयार नहीं है। अग्नि देव भी किसी सूरतमें जलदेव बननेके लिये तैयार नहीं होता, तथा वायु कभी अग्नि बनना नहीं चाहता। **प्रत्येक देव अपने अपने अंहकार में मस्त है**। यह अपनेपनका अभिमान मनके बिना

नहीं रह सकता । मूल प्रकृतिसे प्रथम मन बना, तत्पश्चात् मनसे अहंकार बना, और बादमें अहंकारसे पंचभूत बने हैं; इसलिये पंचभूतों में तथा अन्य सूर्यचंद्रादिकोंमें भी प्रत्येक का अलग अलग मन है । तथा उस प्रत्येकमें अहं–कार अर्थात् " मैं–पन " भी है ।

उक्त अग्नि आदि देवोंके अंश हमारे शरीरमें आकर वसने लगे हैं, अर्थात् ये अपने अपने मन और अहंकारके साथही हमारे शरीर-में आकर रहते हैं । इसलिये ब्रह्मचर्य सूक्तके प्रथम मंत्रमें " **सं-मनसः देवाः** " (अनुकूल मनके साथ देव हैं) ऐसा कहा है । संयमी ब्रह्मचारीके मनके साथ अनुकूल होकर ये देव रहते हैं, अर्थात् असंयमी मनुष्यके मनके अनुकूल ये देव नहीं रहते । यही कारण है कि असंयमी और अब्रह्मचारीके सब इंद्रिय स्वैर होकर दुराचार करने लग जाते हैं ।

' देव ' और ' इंद्रिय ' ये शब्द समानार्थमें ही वेदमें प्रयुक्त होते हैं । प्रत्येक इंद्रियके स्थानमें अग्नि आदि देवताओंका एक एक अंश रहता है और वह अंश उस इंद्रियके व्यापार चलाता है । यदि प्रत्येक अंग, अवयव और इंद्रियके स्थानमें देवताका एक एक अंश है और यदि यह वेदका और उपनिषदोंका कथन सत्य है; तो यह भी मानना पड़ेगा कि उस उस स्थानमें उस प्रत्येक देवताका अहंकार और मन अवश्यही विद्यमान है । जो अहंकार बाह्य जगत्में अग्नि सूर्य आदिमें है, वही उनके प्रतिनिधिभूत वागिंद्रिय और नेत्रेंद्रिय स्थानीय देवतांशोंमें विद्यमान है । ब्रह्मचर्य सूक्तके द्वितीय मंत्रमें ही कहा है कि, " **वह ब्रह्मचारी अपने तपसे तीन, तीस, तीन सौ**

और छः हजार देवोंको तृप्त करता है।" इतने देव हमारे शरीरमें हैं। ब्रह्मचारी उनको प्रसन्न करता है और साधारण जन उनको रुष्ट करते हैं, इतनाही दोनोंमें भेद है।

इस मंत्रका अर्थ करते हुए कईयोंने उक्त देवोंकी संख्याके स्थानमें " **बहुतसे** " ऐसा अर्थ किया है। परंतु वेद " **तीन, तीस, तीन सौ, और छः हजार** " ऐसे शब्द लिखता है, उसका कुछ न कुछ विशेष हेतु अवश्य होगा, इतना भी आदर भाव अर्थ लिखनेवालोंके मनमें नहीं आता, यह सचमुच आश्चर्य ही है!!! मेरे विचारमें ये शब्द सहेतुक प्रयुक्त हुये हैं, और इनका अर्थ इस द्वितीय मंत्रके स्पष्टीकरणमें दिया है। पाठक वहां इसका स्पष्टीकरण अवश्य देखें और इस विषयमें अधिक विचार करें।

इन देवताओंका अपना अपना स्वतंत्र मन है, ऐसा माननेपर उनको समझ अथवा भाव समझनेकी शक्ति भी है, यह बात स्वयं सिद्ध होती है। जो पाठक सूक्ष्म विचार करेंगे, वे जान सकते हैं कि, इंद्रियोंका संयम उन इंद्रियोंके मनके द्वारा ही हो सकता है, दूसरा कोई साधन नहीं है। इस विषयका अधिक विवेचन " **वैदिक-मानस-शास्त्र** " में किया है, पाठक वहां देख सकते हैं।

(५) शरीरमें राष्ट्र।

जिस प्रकार राष्ट्रमें प्रत्येक मनुष्यका अलग अलग मन है, तथापि राष्ट्रकी सामुदायिक शक्तिसे होनेवाला कार्य राजाके मनके अनुसार होता है, किंवा राष्ट्रके अध्यक्षकी अनुमतिसे अथवा राष्ट्रीय समितिकी अनुमतिसे होता है; इसी प्रकार शरीरमें अनेक सूक्ष्म जीवोंमें अपना

अपना निज मन होता हुआ भी संपूर्ण शरीरका कार्य शरीराधिष्ठित मुख्य अध्यक्ष जीवात्माकी इच्छानुकूल ही होता है । अपने शरीरमें एक नहीं, दो नहीं, परंतु करोडों अणु जीव हैं, जिनको "**कीटाणु**" भी कहते हैं । इनकी योग्यतानुसार और कार्य करनेकी शक्तिके अनुसार विभिन्न अवयवों, अंगों, और इंद्रियोंमें लाखोंकी गिनतीमें ये कीटाणु निवास करते हैं । इनमेंसे प्रत्येक अणु-जीव अथवा "कीटाणु" स्वतंत्र रीतिसे रहता, भोग भोगता, खाता पीता और अपना कार्य करनेके पश्चात् मर जाता है । इनमेंसे प्रत्येकमें स्वतंत्र मन है, जिससे वह अनुकूलता को प्राप्त करता है और प्रतिकूलताको दूर करता है, जिस अवयवमें जिस प्रकारके कार्य करनेके लिये कीटाणु रखने चाहिये, उस प्रकारके उस अवयवमें रखे हैं । अर्थात् पांवके कीटाणु और आंखके कीटाणु भिन्न है । जिस प्रकार राष्ट्रमें मजूर पेशा लोग अलग होते हैं और न्यायालयका कार्य करनेवाले अलग होते हैं, उसी प्रकार शरीरमें भी है । इस कारण करोड़ों सूक्ष्म जीवोंका यह शरीर एक बड़ा साम्रज्यही है । प्रत्येक अंग, अवयव तथा इंद्रियमें उक्त प्रकारके सहस्रों और लाखों कीटाणु हैं आर उनको आकर्षित करनेवाला उनका एक एक अधिष्ठाता है, और उन सब अधिष्ठाताओंको चलानेवाला "**शरीरका मुख्य अधिष्ठाता मुख्य जीवात्मा**" है । जैसा राष्ट्रमें महाराजा, दीवान, सरदार, तहसील्दार आदि होते हैं; इसी प्रकार शरीरके साम्राज्यमें भी होते हैं । **एक अवयव रोगी होनेका तात्पर्य उस स्थानके कीटाणु बागी होगये, अथवा**

शत्रुके साथ मिलगये, ऐसा समझिये। मनके द्वारा उनको समझाया जाता है। इसके विविध प्रकार अथर्ववेदमें दिये हैं। जबतक उक्त बात ठीक प्रकार समझमें न आवेगी, तबतक अथर्ववेदके कई सूक्त समझमें भी नहीं आसकते। तथा उक्त बात न समझते हुए अथर्ववेदके उन सूक्तोंका अर्थ करनेका प्रयत्न जिन्होंने किया है, उनको शब्दोंकी खींचातानी ही करनी पड़ी है। इस प्रकार अपने अज्ञानके कारण वेदमंत्रोंका अर्थ बदल देना किसीको भी उचित नहीं है।

जब पाठक अपने "**शरीरके दैवी साम्राज्य**" को उक्त प्रकार जानेंगे, तब उनके अंदर अपूर्वशक्ति प्राप्त हो सकती है। वे अपने मनद्वारा अपने हृदयको तथा आंख आदि अवयवोंके कीटाणुसमूहको तथा उसके अधिष्ठाताको समझा सकते हैं। इस प्रकार प्रेमपूर्वक समझानेसे विलक्षण कार्य उस उस स्थानमें होता है। सब अवयवोंकी अपेक्षा भाव समझनेकी उत्तम शक्ति हृदयमें और मस्तकमें अधिक है, तथा यकृत, पांव आदिमें कम है। जिस समय हृदयकी धड़कन संख्यामें हदसे अधिक बढ़ जाती है, उस समय प्रेमपूर्ण हृदयपर हाथ रख कर उसको समझानेका यत्न प्रेम और भक्तिके साथ करनेसे, हृदयकी घबराहट कम होती है, इसका अनुभव कई वार लिया है। माता प्रेमसे अपने बच्चेके दुखी अवयव पर हाथ घुमाती है और मनसे चाहती है कि, अपने बच्चेका दुःख शीघ्र ही ठीक हो; इस प्रेमपूर्ण हाथके स्पर्शका परिणाम होकर बच्चा थोड़ासा

आराम पाता है । इसमें उक्त मानसिक तत्वकी ही बात विद्यमान है ।

प्रत्येक अंग, अवयव और इंद्रियको ग्रामकी उपमा है, ग्रामाधिकारी प्रत्येक ग्रामपर होता है, प्रांतपर प्रांतका तहसील्दार होता है, और राष्ट्रका महाराजा होता है, इसीप्रकार शरीरमें भी है, इसका थोड़ासा वर्णन प्रश्न उपनिषद्में आया है—

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते, एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्व, इत्येवमेव एष प्राणः इतरान् प्राणान् पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ॥ ४ ॥ पायूपस्थे अपानं, चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते, मध्ये तु समानः ॥५॥ प्रश्न. ३

" जिसप्रकार सम्राट् अपने अधिकारी नियुक्त करता है, इन ग्रामों पर तू कार्य कर, इन ग्रामोंपर तू कार्य कर, ऐसी आज्ञा करता है; ठीक उसी प्रकार मुख्यप्राण इतर प्राणोंको पृथक् पृथक् स्थानपर नियुक्त करता है ॥ पायु और उपस्थमें अपान, चक्षु श्रोत्र मुख नासिकामें प्राण स्वयं रहता है और मध्य भागमें समान प्राण अधिष्ठाता होता है ॥ "

ये प्राण आत्माकी तर्फके अर्थात् सम्राट्के प्रतिनिधिरूप अधिकारी हैं इन्हें जिनपर अधिकार करना है उन स्थानों अथवा ग्रामोंमें भी सहस्रों, लाखों और करोड़ों कीटाणु विद्यमानही हैं । वेदमें "**तीन, तीस, तीन सौ, और छः हजार** " देवोंकी संख्या वर्णन की है, तथा यह संख्या इससेभी अधिक है, परंतु " **तीन और तीस** " के विभाग-

में ही रहती है। जो विद्वान् इस संख्याका कुछ भी महत्व नहीं समझते, और इन देवोंको " दिव्य गुण " समझकर ही छोड़ देते हैं उनके विषयमें जो कुछ कहना उचित है, वह पाठक ही कह सकते हैं। मेरे मतानुसार तो यह संख्या विशेष हेतु रखती है, और हम यदि श्रद्धा भक्तिपूर्वक वेदका अनुसंधान करने लग जांयगे, तथा साथ साथ अपनी आत्मिकशक्ति भी बढानेका अनुष्ठान करेंगे, तो उक्त सब बातें स्पष्ट ज्ञात हो सकती हैं।

उक्त " **सब देव ब्रह्मचारीके शरीरमें अनुकूल मनके साथ रहते हैं,** " यह वेदका कथन है। ब्रह्मचारीका मन बलवान् होता है, उसके तपके कारण उसका इतना प्रभाव होता है कि, वह सब देवोंको अपने अनुकूल बना रखता है। इसीको इंद्रिय दमन, इंद्रिय संयम कहते हैं। जिसका मन कमजोर होता है, उसपर एकएक इंद्रियका मन सवार हो जाता है और वह उस इंद्रियके आधीन होकर दीन और दुःखी बन जाता है। इसको देखकरभी पाठक जान सकते हैं कि प्रत्येक इंद्रियमें उक्त प्रकारकी शक्ति विद्यमान है।

(६) कर्मभूमिमें अवतार।

" **अंश रूपसे देवता कर्मभूमिमें अवतार लेते हैं** " इसका यही तात्पर्य है कि, इस शरीररूपी कर्मभूमिमें अग्नि वायु आदि देवता अंशरूपसे आकर कार्य करते हैं। जहां कर्मभूमिका वर्णन आता है, वहां अपना " **मनुष्य शरीरही कर्मभूमि** " है। यज्ञमें देवता आकर हविर्भाग लेते हैं, ऐसा वर्णन ब्राह्मणादि ग्रंथोंमें कई

स्थानपर है, उसका भी यही तात्पर्य है । यह शरीर ही **" यज्ञ भूमि "** है, यहां देवता आकर बैठे हैं; परंतु **आजकलके इस यज्ञ-भूमिके अधिकारी स्वयं अंधे हो चुके हैं; इसलिये अपने मकान-में आये हुए प्रत्यक्ष देवताओंकोभी वे नहीं देखते !** क्या यह आश्चर्य नहीं है ! जो मनुष्य अपने शरीरमें देवताओंको प्रत्यक्ष देखेगा और उनका अधिष्ठाता मैं आत्मा हूं, यह अनुभवसे जानेगा, वही वैदिक धर्मका महत्त्व जानसकता है ।

यहां इतना कहना आवश्यक है कि, जो देव अंशरूपसे शरीर-की कर्मभूमिमें अवतार लेते हैं, वे देव अग्नि वायु रवि इंद्र आदि बाह्य सृष्टिके अंदर विद्यमान हैं । वेदमें इनके सूक्त विद्यमान हैं । साथ साथ वेदमें " अक्ष, कितव, उलूखल, मुसल, धनुष, इषु " आदिभी देवता हैं । यह देवताओंका समूह ऐसा है कि, जो मनुष्य-कृत वर्गमें आता है । इनका अवतार शरीरमें नहीं होता (जो विश्व-व्यापक अग्नि, जल, वायु, रवि आदि देव हैं, उनका ही अल्प अंश शरीरमें आता है ।

(७) जड़वाद ।

कई लोग समझते हैं कि अग्नि, वायु, सूर्य, इंद्र आदि पदार्थ जड़ हैं । एक दृष्टिसे यह बात ठीक भी है । परंतु यह जड़वाद बुद्धकाल-के पश्चात् बहुत बढ गया है, और बुद्धादिकोंका खंडन करनेकेलिये आस्तिकोंने भी इसका स्वीकार करके अपनाया है । परंतु सूर्यादि-कोंकी जड़ता केवल कल्पनागम्यही है । सबही प्रकृतिके परमाणु-

ओंमें परमात्मा ऐसा व्याप्त हुआ है कि, कोईभी परमाणु समूह केवल जड़रूपमें अलग बताया नहीं जा सकता। द्व्यणुक, त्रसरेणुक आदि परमाणुओंके समूह जब बन जाते हैं, तब उस प्रत्येकका आकर्षण कर्ता वहां नियुक्त होता है। आकर्षण कर्ताके अभिमानके बिना वहां परमाणु इकट्ठे रहही नहीं सकते। प्रत्येकका अधिष्ठाता मनके साथ आत्मा है। जड़वादी सूर्यादिकोंको बेशक जड़ कहें, परंतु उपनिषद्कार कहते हैं कि—

प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥

प्रश्न. उ. १।८

"प्रजाओंका प्राणरूप सूर्य उदयको प्राप्त होता है।" उपनिषदोंमें सूर्यका वर्णन देखनेसे पता लगता है कि, वहांकी प्राणशक्ति ही हमारे जीवनका कारण है, यही भाव मंत्रमें देखिये—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥

ऋ. १।११५।१

"सूर्य स्थावर जंगमका आत्मा है।" शब्दोंके मर्जी चाहे अर्थ किये जायँ, वेद मंत्र और उपनिषदोंका उपदेश इनकी संगति बता रही है कि, वेद चैतन्य भावनासेही सब सृष्टि की ओर देखनेका उपदेश दे रहा है। इस सूर्यका अंश हमारे शरीरमें आकर रहता है (१) आंखमें नेत्रेंद्रिय बन कर रहा है, (२) मस्तिष्कका अधिष्ठाता वही है; (३) नाभिस्थानके पास सूर्यचक्रमें वह विद्यमान है, (४) शरीरके संपूर्ण सीधे अंगमें वह कार्य कर रहा है, इस प्रकार सूर्य हमारे शरीरमें आकर रहा है। एक

सूर्यके एक एक स्थानके कार्यका क्या महत्व है इसका पूर्ण वर्णन करना हमारी शक्तिके बाहिर है। सूर्यचक्रमें रहता हुआ वह सूर्य-देव आयु और जीवन कला दे रहा है! ' प्राणायामद्वारा सूर्य चक्र-की जागृति ' जो करते हैं उनको पता है, कि इस सूर्य चक्रकी जागृतिसे किस प्रकार अपनी चैतन्यशक्ति बढती है। इसी प्रकार अन्य स्थानोंका वर्णन हो सकता है। स्थान स्थानमें जाकर विशिष्ट देवताकी प्रसन्नता करनेके लिये तप करना यही तात्पर्य है। प्राणके साथ सूर्य चक्रका वेध करके जो योगी वहां पहुंच कर, तप करते हैं, उनपर सूर्य देव प्रसन्न होता है और प्राणशक्ति देता है। इसी प्रकार अन्यान्य स्थानों में अन्यान्य देवता हैं। उनमें वैसा जड़त्व नहीं है, जैसा समझा जाता है; उनमें चेतन भाव भी है आर वह चेतन सत्ता ही स्थान स्थानमें कार्य कर रही है। यही चेतन भाव देखना चाहिये। यही वेदकी दृष्टि है। इसी प्रकारके देव ब्रह्मचारीके शरीरमें रहते हैं। अस्तु।

ब्रह्मचारी सूक्तके मुख्य सिद्धान्तोंका इस प्रकार मनन हुआ है। पाठक इन बातोंका स्वतंत्रतापूर्वक विचार करें, आर्ष ग्रंथोंके अन्य वचनोंके साथ तुलना करें, तथा प्रत्यक्ष अनुभव लेकर देखें कि सत्य, क्या है। इस प्रकार स्वाध्याय करनेके पश्चात् वेदका सत्य अर्थ ज्ञात हो सकता है।

औंध (जि. सातारा)
१ श्रावण संवत् १९७९ — **श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,**
स्वाध्याय मंडल.

ॐ

ब्रह्मचर्य-सूक्तम् ।

(अथर्व० ११।५)

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे
तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥
स दाधार पृथिवीं दिवं च
स आचार्यं१तपसा पिपर्ति ॥ १ ॥

अर्थः—ब्रह्मचारी (उभे रोदसी) पृथिवी और द्युलोक इन दोनोंको (इष्णन्) पुनः पुनः अनुकूल बनाता हुआ (चरति) चलता है, इसलिये (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारीके अंदर सब देव (संमनसः) अनुकूल मन के साथ (भवंति) रहते हैं। (सः) वह ब्रह्मचारी पृथिवी और (दिवं) द्युलोकका धारण करता है, और वह अपने तपसे अपने आचार्य को (पिपर्ति) परिपूर्ण बनाता है।

भावार्थः—(१) पृथिवीसे लेकर द्युलोक पर्यंत जो जो विविध पदार्थ हैं, उनको ब्रह्मचारी अपने अनुकूल बनाता है, (२) इससे उस ब्रह्मचारीमें सब देव अनुकूल बनकर निवास करते हैं, (३) इस प्रकार वह पृथिवी और द्युलोकको अपने तपसे धारण करता

है, और (४) उसी तपसे वह अपने आचार्यको भी परिपूर्ण बनाता है ।

यह मंत्र ब्रह्मचारीका कर्तव्य कर्म व्यक्त कर रहा है । ब्रह्मचारी वह होता है कि जो (ब्रह्म) बड़ा होनेके लिये (चारी) पुरुषार्थ करता रहता है । “ ब्रह्म ” शब्दका अर्थ—वृद्धि, महत्व, बड़प्पन, ज्ञान, अमृत आदि है । “ चारी ” शब्द का भाव–आचरण करना, नियमपूर्वक योग्य व्यवहार करना है । इन दोनों पदोंके भाव निम्न प्रकार व्यक्त होते हैं–अभिवृद्धिके लिये प्रयत्न करना, सब प्रकारसे श्रेष्ठ बननेका पुरुषार्थ करना, सत्य और शुद्ध ज्ञान बढ़ानेका यत्न करना, अमरत्वकी प्राप्तिके लिये परम पुरुषार्थ करना । यह मुख्य भाव “ ब्रह्मचारी ” शब्दमें है । उक्त पुरुषार्थ करनेकी शक्ति शरीरमें वीर्यकी स्थिरता होनेसे ही प्राप्त हो सकती है, इस लिये ब्रह्मचारीको वीर्यरक्षण करनेकी अत्यंत आवश्यकता है ।

(१) जगतका निरीक्षण ।

उक्त मंत्रका पहिला कथन यह है कि “ **ब्रह्मचारी उभे रोदसी इष्णन् चरति** । ” अर्थात्—“ अपनी अभिवृद्धिकी इच्छा करनेवाला पुरुष पृथिवी और द्युलोकको अनुकूल बनाकर अपना व्यवहार करता है । ” पृथिवीसे लेकर द्युलोक पर्यंत जो जो पदार्थ हैं, उनको अपने अनुकूल बनानेसे अभ्युदयका मार्ग सुगम होता है । यह अत्यंत स्पष्टही है कि, यदि हम सृष्टिके पदार्थोंके साथ विरोध करेंगे, तो उनकी शक्ति बड़ी होनेके कारण हमाराही घात होगा । परंतु यदि हम पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि सब पदार्थोंको अपने अनु-

कूल बनायेंगे, हम उनके नियमानुकूल अपना व्यवहार करेंगे और इस प्रकार आपसकी अनुकूलता के साथ परस्परके व्यवहार होंगे, तम हम सबोंका अभ्युदय हो सकता है। यही भाव इस मंत्रभागमें कहा है।

"**देवयज्ञ**" का यही तात्पर्य है। देव पूजा, संगति करण और दान ये यज्ञके तीन प्रधान अंग हैं। देवताओंकी पूजाद्वारा उनकी प्रसन्नता और अनुकूलता संपादन करना, उनके साथ संगति अर्थात् मित्रता करना और उनके लिये समर्पण करना यह यज्ञ है। यही भाव भगवद्गीतामें कहा है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ॥
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ भ. गी. ३।११

"तुम इससे देवताओंको संतुष्ट करते रहो, और वे देवता तुम्हें संतुष्ट करते रहें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरेको संतुष्ट करते हुए दोनों परम श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त कर लो।"

उन्नतिका यह नियम है' पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, औषधियां, पर्वत, नदियां, चंद्र, सूर्य, नक्षत्र आदि अनेक देवता हैं। जो बुद्धिमान् इन देवताओंको अनुकूल बनाता, और स्वयं उनके अनुकूल व्यवहार करता है, उसकी उन्नति होती है। परंतु जो इनके प्रतिकूल आचरण करता है, वह अवनत होता है।

जब ब्रह्मचारी सृष्टिका इस विधिसे निरीक्षण करता है, तब उसको विदित होता है कि, पृथिवी सबको आधार देती है; यह देख कर, वह निराश्रितोंको आश्रय देनेका स्वभाव अपने में बढाता है। जल

देवता सबको शांति प्रदान करनेके लिये उच्चसे नीच स्थानमें पहुंचता है, यह देखकर ब्रह्मचारी निश्चय करता है, कि मुझे अपनी उच्चताके घमंड में रहना उचित नहीं है, इसलिये मैं नीचसे नीच अवस्थामें रहनेवाले पतित जनोंके उद्धार के लिये तथा उनके आत्माओंको शांत करनेके लिये अवश्य यत्न करूंगा। अग्निदेवता की ऊर्ध्व ज्योति देख कर ब्रह्मचारी उपदेश लेता है कि, दूसरोंको प्रकाश देनेके लिये मुझे इस प्रकार जलना चाहिये और सीधा होना चाहिये। वायु देवताकी हलचल देख कर ब्रह्मचारी निश्चय करता है कि, मैं भी हलचल द्वारा जनताकी शुद्धता संपादन करूंगा। सूर्यका तेज अवलोकन करके ब्रह्मचारी संकल्प करता है कि, मैं ज्ञानसे इसी प्रकार प्रकाशित हो जाऊंगा। चंद्रकी शांत अमृतमयी प्रभाका निरीक्षण करके वह बोध लेता है कि, मैं भी इसीप्रकार अमृतरूपी शांतिका स्रोत बन जाऊंगा। इसी ढंगसे अन्य देवताओंका निरीक्षण करके वह अपने अंदर उनके गुणधर्मोंको धारण करने और बढानेका यत्न करता है। मानो अग्न्यादि देव उनके लिये आदर्श बन जाते हैं, और उक्त प्रकार उनको उपदेश देते हैं।

वेदमंत्रोंमें जो अग्नि वायु आदि देवताओंके गुण वर्णन किये है उसका यही तात्पर्य है। ब्रम्हचारी एक एक सूक्तको पढता है और प्रारंभमें उक्त गुण उन देवताओंमें देखकर अपने अंदर धारण करनेका यत्न करता है। इन देवताओंमें परमात्माके विविध गुणोंका आविर्भाव होनेके कारण वह परंपरासे परमात्माके गुणोंकोही अपने अंदर बढाता है।

इसी प्रकार हरएक देवताके प्रशंसनीय सद्गुण देखने का उस ब्रह्मचारीको अभ्यास होता है, **दोष देखनेकी दृष्टि दूर होती है और सद्गुण स्वीकारनेका भाव बढ़ जाता है** । हरएक मनुष्यकी उन्नतिका यही वैदिक मार्ग है । आजकल दोष देखने का ही भाव बढ़ गया है, इसलिये प्रतिदिन मनुष्य गिरताही जाता है । इस कारण मनुष्यमात्रको इस वैदिकधर्म के मार्गमेंही आकर सब जगत्में शांति स्थापना द्वारा अपने आत्माकी शांति बढ़ानी चाहिये ।

शतपथ ब्राह्मणमें कहा है कि “ **यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि ।** ” (शत. ब्रा. ७।३।२।६) अर्थात् “ जो देव करते आये हैं वह मैं करूं गा । ” यही बात उक्त स्थानपर कही है । इस प्रकार ब्रह्मचारी देवोंका अनुकरण करने लगता है, देवोंके विषयमें आदर भाव धारण करता है, और अन्य प्रकार देवोंको प्रसन्न करनेका यत्न करता है । इस तपस्यासे देवभी संतुष्ट और प्रसन्न हो कर उसके साथ अथवा वास्तविक रीतिसे उसके शरीरमेंही निवास करने लगते हैं । इसका वर्णन आगेके मंत्र भागमें है—

(१) देवताओंकी अनुकूलता ।

जो ब्रह्मचारी उक्त प्रकार देवताओंका निरीक्षण, अनुकरण और गुणग्रहण करता है, उसमें अंशरूपसे निवास करनेवाले देवता उसकेसाथ अनुकूल बनकर रहते हैं । मंत्र कहता है कि—

“ **तस्मिन् देवाः सं-मनसो भवन्ति ।** ” अर्थात् “ **उस ब्रह्मचारीमें सब देव अनुकूल मनके साथ रहते हैं ।** ” उसके शरीरमें जिन जिन देवाताओंके अंश हैं, वे सब उस ब्रह्मचारीके मनके

अनुकूल अपना मन बनाकर उसके शरीरमें निवास करते हैं। अपने शरीरमें देवताओंका निवास निम्न प्रकारसे होता है, देखिये—

१ अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्,
२ वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत,
३ आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्,
४ दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्,
५ ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्,
६ चंद्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्,
७ मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत,
८ आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्,

ऐतरेय उ० २।४

(१) " अग्नि वक्तृत्वका इंद्रिय बनकर मुखमें प्रविष्ट हुआ, (२) वायु प्राण बनकर नासिकामें संचार करने लगा, (३) सूर्यने चक्षु का रूप धारण करके आंखोंके स्थानमें निवास किया, (४) दिशाऐं श्रोत्र बनकर कानमें रहने लगीं, (५) औषधि वनस्पतियां केश बनकर त्वचामें रहने लगीं, (६) चंद्रमा मन बनकर हृदय स्थानमें प्रविष्ट हुआ, (७) मृत्यु अपान का रूप धारण करके नाभि स्थानमें रहने लगा, (८) जलदेवता रेत बनकर शिश्नमें रहने लगा।

इस ऐतरेय उपनिषद् के कथनानुसार अग्नि, वायु, रवि, दिशा, औषधि, चंद्र, मृत्यु, आप् इन आठ देवताओंका निवास उक्त आठ

स्थानों में हुआ है। पाठक जान सकते हैं कि, इसी प्रकार अन्य देवता, जो बाहिर के जगत् में हैं, और जिनका वर्णन वेदमें सर्वत्र है, उनके अंश मनुष्यके शरीरमें विविध स्थानोंमें रहते हैं। इस प्रकार हमारा एक एक शरीर सब देवताओंका दिव्य साम्राज्य है और उसका अधिष्ठाता आत्मा है, तथा इसी आत्माकी शक्ति उक्त सब देवताओंमें प्रविष्ट होकर कार्य करती है; इसका अधिक विचार करनेके पूर्व अथर्ववेदके निम्न मंत्र देखने योग्य हैं—

१ दश साकमजायंत देवा देवेभ्यः पुरा ॥
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ॥३॥

२ ये त आसन् दश देवा देवेभ्यः पुरा ॥
पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥१०॥

३ संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् ॥
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १३ ॥

४ यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः ॥
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १८ ॥

५ अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् ॥
रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २९ ॥

६ या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह ॥
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥ ३० ॥

७ सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे ॥
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥ ३१ ॥

८ तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ॥
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥

अथ. ११।८॥

(१) सबसे प्रथम (देवेभ्यः दश देवाः) देवोंसे दस देव उत्पन्न हो गये । जो इनको प्रत्यक्ष (विद्यात्) जानेगा, वह (अद्य) आज ही (महत् वदेत्) महत् ब्रह्मके विषयमें बोलेगा । (२) जो पहिले देवोंसे दस देव हुये थे, पुत्रोंको स्थान देकर स्वयं किस लोकमें रहने लगे हैं ? (३) सिंचन करनेवाले वे देव हैं कि, जो सब सामग्रीको एकत्रित करते हैं । (देवाः) ये देव सब (मर्त्यं) मरणधर्मी शरीरको सिंचित करके पुरुषमें प्रविष्ट हुये हैं (४) जो (त्वष्टुः उत्तरः पिता) कारीगर जीवका पिता (उत्तरःत्वष्टा) अधिक उत्तम कारीगर है, वह इस शरीरमें छेद करता है, तब मरणधर्मवाला (गृहं) घर बनाकर सब देव इस पुरुषमें प्रविष्ट होते हैं । (५) हड्डियों की समिधायें बनाकर, रेतका घी बनाकर, (अष्टं आपः) आठ प्रकारके रसोंको लेकर सब देवोंने पुरुषमें प्रवेश किया है । (६) जो आप् तथा अन्य देवता हैं, और ब्रह्मके सह वर्तमान जो विराट् है, ब्रह्मही उन सबके साथ (शरीरं प्राविशत्) शरीरमें प्रविष्ट हुआ है और प्रजापति शरीरमें अधिष्ठाता हुआ है । (७)

सूर्य चक्षु बना, वायु प्राण हुआ और ये देव इस पुरुष में रहने लगे, पश्चात् इसके इतर आत्माको देवोंने अग्निके लिये अर्पण किया। (८) इस लिये इस पुरुषको (विद्वान्) जानने वाला ज्ञानी यह (इदं ब्रह्म इति) यह ब्रह्म है ऐसा (मन्यते) मानता है। क्योंकि इसमें सब देवता उस प्रकार इकठ्ठे रहते हैं, कि जैसे गौवें गोशालामें रहतीं हैं।

इन मंत्रोंमें स्पष्ट कहा है कि, अग्नि वायु आदि देवता इस शरीरमें निवास करते हैं। अर्थात् प्रत्येक देवताका थोड़ा थोड़ा अंश इस शरीरमें निवास करता है। यही देवोंका " **अंशावतरण** " है। जो इस प्रकार अपने शरीरमें देवताओंके अंशोंको जानता है, वह अपने आत्माकी शक्ति जान लेता है। और जो शरीरमें रहनेवाले देवताओंके समेत अपने आत्माको जानता है, वही परमेष्ठी परमात्माको जानता है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये:—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ॥
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ॥
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कंभमनु सं विदुः ॥
अथ. १०।७।१७

" जो पुरुषमें ब्रह्म जानते हैं, वे परमेष्ठीको जानते हैं। जो परमेष्ठीको जानता है, और जो प्रजापति को जानता है, तथा जो (ज्येष्ठं ब्राह्मणं) श्रेष्ठ ब्रह्माको जानते हैं, वे स्कंभको उत्तम प्रकार जानत हैं। "

अपने शरीरके अंदर ब्रह्मका अनुभव करनेका यह फल है । परमात्माके साक्षात्कार का यही मार्ग है । इस लिये अपने शरीरमें देवताओंके अंशोंका ज्ञान प्राप्त करके उन देवताओंका अधिष्ठाता जो एक आत्मा है, उसका अनुभव प्रथम करना चाहिये । पूर्वोक्त ऐतरेय उपनिषद्के वचनमें प्रत्येक देवताका भिन्न भिन्न स्थान कहा ही है । उस उस स्थानमें उक्त देवताके अंशकी कल्पना करनी चाहिए ।

बाहिरकी सृष्टिमें अग्नि वायु आदि देवता विशालरूप में हैं । उनके अंश प्रत्येक शरीरमें आकर रहते हैं, और इस प्रकार यह जीवात्माका साम्राज्य अर्थात् शरीर बन जाता है । यहां प्रश्न हो सकता है कि, ये सब देवता मन के साथ हैं, वा मन विहीन हैं । इस प्रश्नका उत्तर ब्रह्मचर्य सूक्तके मंत्रने ही दिया है, कि " **तस्मिन् देवाः संमनसो भवंति** " अर्थात् " उस ब्रह्मचारीमें उक्त सब देव अनुकूल मन धारण करके रहते हैं । " इस मंत्रके " **सं–मनसः देवाः** " ये दो शब्द विशेष लक्ष्य पूर्वक देखने योग्य है । इनका अर्थ देखिये—

सं —मिलेहुवे, अनुकूल—

मनसः—मन से युक्त,

देवाः —अग्नि आदि देव, तथा शरीरमें निवास करनेवाले देवताओंके अंश ।

" जो ब्रह्मचारी सृष्टयंतर्गत अग्नि वायु आदि विशाल देवताओंका निरिक्षण और अनुकरण करके उपदेश लेता है, उनको अनुकूल बनाकर स्वयं उनके अनुकूल व्यवहार करता है; उस ब्रह्मचारीके अंदर वे ही देव अर्थात् उनके अंश अनुकूल बन कर रहते हैं। तात्पर्य कि ब्रह्मचारी के मनके साथ अपना मन मिलाकर उक्त देव निवास करते हैं। "

प्रत्येक इंद्रियमें एक एक देव है, और वह देव इस ब्रह्मचारीके अनुकूल होकर रहता है। इस सबका तात्पर्य ब्रह्मचारीकी सब इंद्रिय-शक्तियां उसके वशमें रहती हैं, इतनाही है। प्रत्येक देवताका मन भिन्न भिन्न है, अर्थात् प्रत्येक इंद्रिय स्थानीय उस देवताके अंश-काभी मन भिन्न भिन्न ही होता है। आंख, नाक, कान, मुख, हृदय, नाभी, शिस्न, हाथ, पांव आदि प्रत्येक इंद्रिय और अवयवका मन विभिन्न है, परंतु इन सबके विभिन्न मनोंको अपने आधीन रखने वाला " **जीवात्माका मुख्य मन** " होता है। जो ब्रह्मचर्यके नियमानुसार अपना आचरण करके ब्रह्मचारी बनता है, उसके शरीरमें निवास करनेवाले देवताओंके संपूर्ण अंश ब्रह्मचारीके मनके अनुकूल अपना मन धारण करके उसके अनुकूलही अपना कार्य करनेमें तत्पर होते हैं। परंतु जो नियम छोडकर जैसा चाहे वैसा व्यवहार करता है, उस स्वच्छंद पुरुषके इंद्रिय स्थानीय देवतागण भी स्वेच्छाचारी होते हैं। और प्रत्येक इंद्रिय स्वच्छंद होनेसे अंतमें इस मनुष्यकाही नाश होता है। इस लिये ब्रम्हचारीको उचित है कि,

वह नियमानुसार आचरण करके इंद्रिय स्थानीय सब देवताओंको अपने आधीन रखे और अपनी इच्छानुसार उनसे योग्य कार्य लेता रहे ।

अपने शरीरको इस प्रकार "**देवताओंका साम्राज्य**" समझना और सब देवताओंका अधिष्ठाता मैं हूं, इस विचारको अपने मनमें दृढ करना चाहिये । इसका अधिक विवरण "**वैदिक मानस शास्त्र**" नामक पुस्तकमें किया है, वहां पाठक विशेष रीतिसे देख सकते हैं । अपनी मनकी शक्ति शरीरके प्रत्येक इंद्रियमें जाकर वहां कैसा विलक्षण कार्य करती है, यह विचार पूर्वक देखनेसे अपनी आत्मशक्तिका अनुभव हरएक को प्राप्त हो सकता है । इस अनुभवसे इंद्रिय शमन और इंद्रिय दमन साध्य होता है ।

प्रत्येक इंद्रिय भिन्न देवताके अंशका बना है । **इन देवताओंमें भूस्थानीय, अंतरिक्ष स्थानीय तथा द्युस्थानीय ऐसे देवताओंके तीन वर्ग हैं** । सबही देवताओंका निवास शरीरमें है, ऐसा कहने मात्रसे उक्त त्रिलोकी का ही निवास इस शरीरमें है, यह बात स्पष्टही होगई । क्योंकि भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्ग लोक इन तीन स्थानोंमेंही सब देवता रहते हैं । जब उक्त तीनों लोकोंके एक एक पदार्थका अंश इस शरीरमें आता है, तो मानो त्रैलोक्यकाही थोडा थोडा अंश लेकर यह मानव देह बनाया गया है । इस विषयका स्पष्टीकरण निम्न कोष्टकसे हो सकता है—

(३) त्रिलोकीका कोष्टक ।

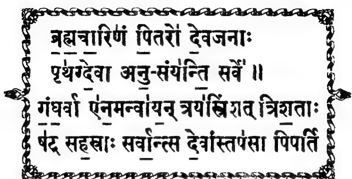
	लोक	देवता		मनुष्यके इंद्रिय.	
बाह्य स्थानकी त्रिलोकी (समष्टि)	स्वर्ग लोक, द्युलोक, स्वः	द्यौः, सूर्य, दिशा, अग्नि	—सिर—	सिर, आंख, कान, मुख वागिंद्रिय	शरीरमें त्रिलोकी — (व्यष्टि)
	भुवर्लोक, अंतरिक्षलोक, भुवः	इंद्र, चंद्र, वायु और मरुत्	कंठ फेफड़े, हृदय	आत्मा, मन, मुख्य और गौण प्राण	
	भूलोक, पृथिवी लोक, भूः	मृत्यु, आपः, जल, भूमि	नाभि, शिश्न पांव	अपान, रेत, वीर्य, पांव	

इस प्रकार बाहिरकी त्रिलोकीका अंश शरीरमें आया है । इसी कारण कहा जाता है कि यह ब्रह्मचारी त्रैलोक्यका आधार है । देखिये—" **स दाधार पृथिवीं दिवं च** " अर्थात् वह पूर्वोक्त संयमी ब्रह्मचारी पृथिवी और द्युलोक तथा तदंतर्गत बीचके अंतरिक्ष लोक को भी आधार देता है । यह बात उक्त कोष्टकसे अब स्पष्ट हो चुकी है । इस प्रकार मंत्रका प्रत्येक भाग ' अनुभव की बात ही बता रहा है । यहां किसी अलंकार की कल्पना करनेकी आवश्यकता ही नहीं है । प्रत्येक मनुष्य विचारकी दृष्टिसे मंत्रोक्त बातको अपने

अंदर ही देख सकता है । **केवल काल्पनिक बातें वेदमें नहीं हैं प्रत्यक्ष होने वाली बातें ही वेद वर्णन करता है । परंतु उसको प्रत्यक्ष देखनेकी रीतिसे ही देखना चाहिये ।** जो रीति यहां बताई है, उससे प्रत्येक मनुष्य अपने अंदर ही मंत्रोक्त बातें प्रत्यक्ष देख सकता है ।

अब मंत्रका अंतिम भाग रहा है । वह यह है " **स आचार्य तपसा पिपर्ति ।** अर्थात् उक्त प्रकारका ब्रह्मचारी अपने तपसे अपने आचार्यका पालन और पूर्णत्व करता है । " जो तप ब्रह्मचारीको करना है उसका स्वरूप मंत्रके तीन चरणोंमें कहा ही है । सृष्टिके अग्न्यादि देवताओंका निरीक्षण करना, उनको अपने अनुकूल बनाना, उनके अनुकूल स्वयं व्यवहार करना, तथा अपने शरीरमें जो उनके अंश रहते हैं, उनको अपने मनके अनुकूल चलाना, यह सब तप ही है । इस प्रकारका तप जो ब्रह्मचारी करता है, वही आचार्य को परिपूर्ण बनाता है । अर्थात् नियम विरुद्ध आचरण करनेवाले विद्यार्थी गुरुजीकी पूर्णता तो क्या करेंगे, परंतु उनमें न्यूनता ही उत्पन्न करते हैं, यह बात स्पष्ट ही है ।

उक्त मंत्रभागमें " **पिपर्ति** " पद है, इसका अर्थ " (१) पालन करता है और (२) परिपूर्ण करता है " यह है । तात्पर्य यह कि आचार्य के पालन पोषण का भार विद्यार्थियोंपर [किंवा विद्यार्थियोंके पालकों पर] होता है, तथा आचार्यकी इच्छा पूर्ण करनेका भार भी विद्यार्थियोंपर ही रहता है ।


ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः
पृथग्देवा अनु-संयन्ति सर्वे ॥
गंधर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः
षट् सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति

अर्थ—देव, पितर, गंधर्व और देवजन ये (सर्वे) सब ब्रम्हचारीको अनुसरते हैं । (त्रयःत्रिंशत्) तीन, तीस (त्रिशताः) तीनसौ और (षट्-सहस्राः) छः हजार देव हैं । (सर्वान् देवान्) इन सब देवोंका (सः) वह ब्रम्हचारी अपने तपसे (पिपर्ति) पालन करता है ॥ २ ॥

(४) चार वर्णोंके नाम ।

" देव, पितर, गंधर्व, देवजन " ये चार शब्द क्रमशः ब्राम्हण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शब्दोंके वाचक हैं । चातुर्वर्ण्यके समानार्थक कई शब्द वेदमें आते हैं, उनका ज्ञान निम्न कोष्टकसे होगा—

देवाः	पितरः	गंधर्वाः	मनुष्याः
देवाः	राक्षसाः	गंधर्वाः	मनुष्याः
सुराः	असुराः	किंनराः	पिशाचाः
यक्षाः	राक्षसाः	किंनराः	गुह्यकाः
देवाः	पितरः	गंधर्वाः	देवजनाः

ब्राम्हणाः	क्षत्रियाः	वैश्याः	शूद्राः
अग्निः	इंद्रः	मरुतः	विश्वेदेवाः

यद्यपि यह कोष्टक परिपूर्ण नहीं है तथापि इस कोष्टकसे ज्ञात हो सकता है कि, चातुर्वर्ण्यका संबंध विविध वर्णनोंमें किन किन शब्दोंसे बोधित हो सकता है।

केवल " **देव** " शब्द ब्राह्मणत्वका वाचक यद्यपि विशेषतः प्रयुक्त नहीं है, तथापि उक्त चार शब्दोंमें जिस समय प्रयुक्त होता है, उस समय वह ब्राह्मण्यका बोध करता है, इसमें संदेह नहीं है,। " **यक्ष** " शब्द याजक का भाव बताता है । " **पितरः** " शब्दका अर्थ " रक्षक " है। **वही भाव आरंभमें " राक्षस " शब्दमें था, परंतु जब रक्षकोंने रक्षा करनेका अपना पवित्र, काम छोड़ दिया और वे रक्षणीयोंका ही भक्षण करने लगे, तब " राक्षस, रक्षः " आदि शब्दोंका भाव विरुद्ध होगया ।** " **असुर** " शब्द भी (अस्यति) शत्रुओंका दूर करनेवाला क्षत्रिय अर्थमें मूलतः है। परंतु इस शब्दका अर्थ, क्षत्रियोंका स्वभाव स्वार्थी होनेके पश्चात् बदल गया। " **गं-धर्व** " शब्द पृथिवीका धारण करनेवाला इस अर्थमें प्रयुक्त होता है। इसीप्रकार अन्य शब्दोंके संबंध होंगे। पाठक इसका विचार करें।

(५) ब्रह्मचारी की जिम्मेवारी ।

ये चारों वर्णोंके लोग ब्रह्मचारीका अनुकरण करते हैं। यह मंत्रका प्रथम कथन है। ब्रह्मचारी जैसा आचरण करता है वैसा ही

व्यवहार इतर लोग करने लगते हैं । यह बात ब्रह्मचारीको अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये । इससे ब्रह्मचारीपर एक विलक्षण जिम्मेवारी आजाती है । यदि कोई दोष ब्रह्मचारी के आचरणमें होगा, तो उसका अनुकरण इतर लोग करेंगे; विशेषतः गुणोंकी अपेक्षा दोषोंका अनुकरण अधिक होता है । श्रेष्ठ मनुष्य जैसा आचरण करता है, वैसा इतर लोग करते हैं ऐसा कहते हैं । परंतु यह नियम सदाचारके अनुकरणकी अपेक्षा दुराचारके अनुकरणके विषयमें अधिक सत्य प्रतीत होता है !! यदि बडा आदमी अच्छा आचरण करेगा, तो उसके अनुसार छोटे आदमी आचरण करेंगे, यह निश्चित नहीं है; परंतु यदि बडा आदमी बुरे कार्य करेगा, तो बहुधा उसका अनुकरण अन्य लोग करने लगेंगे । इसलिये बडे आदमीको अपना आचरण विचारपूर्वक शुद्ध रखना चाहिये । यही जिम्मेवारी ब्रह्मचारीपर भी रहती है, क्यों कि अपने अपने स्थानपर ब्रह्मचारीकी प्रशंसा होगी, वहांके छोटे मोटे लोग उसको देखकर उसके समान बननेका यत्न करेंगे । जो बाहिरसे विशेष विद्या पढ़कर आता है, उसपर इसी प्रकार जिम्मेवारी होती है, इसलिये नव शिक्षितोंको अपनी जिम्मेवारी समझकर ही व्यवहार करना उचित है ।

(६) व्यापक चातुर्वर्ण्य ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ये चार वर्ण चार अवस्थाओंके बोधक हैं । इस लिये इनका स्वरूप केवल मनुष्योंमेंही है, ऐसा समझना गलत् है । प्रत्येक शरीरमें चातुर्वर्ण्य है, शरीरमें सिर ब्राह्मण

है, छाती और बाहू क्षात्रिय है, पेट और ऊरु वैश्य हैं, तथा पांव शूद्र हैं। प्राणिमात्रके शरीरमें यह चातुर्वर्ण्य है। दिनके समयमें भी चातुर्वर्ण्य है, प्रातःकालसे सवेरे नौ बजेतकका समय ब्राह्मसमय है, दो पहरका समय क्षात्र समय है, शामका समय वैश्य समय है और रात्रीका अंधकारमय समय शूद्र काल है। संवत्सरका विभाग भी इसी प्रकार है, वसंत ऋतु ब्राह्म ऋतु है. ग्रीष्म ऋतु क्षात्र ऋतु है, वर्षा और शरद् वैश्य ऋतु है और शेष शूद्र ऋतु हैं। बाह्य देवताओंमें अग्नि, ब्रह्मणस्पति आदि ब्राह्म देवता हैं, इंद्र वायु रुद्र आदि क्षात्र देवता हैं, मरुत् आदि वैश्य देवता हैं और विश्वेदेव आदि शूद्र देवता हैं। प्रत्येक देवतामें भी ब्राह्मण क्षत्रियादि भेद हैं, जैसः—अग्नि में ब्राह्म अग्नि, क्षात्र अग्नि, आदि चार प्रकार हैं; रुद्रमें भी ब्राह्मरुद्र, क्षात्ररुद्र आदि चार प्रकार हैं, (इस विषयमें " रुद्र देवता " पुस्तक देखिये) इसी रीतिसे अन्य देवताओंमें समझना चाहिये। इसी रीतिसे वृक्षोंमें, पशुपक्षियोंमें, स्थावर पदार्थ पत्थर, धातु, रत्न आदिमें भी चातुर्वर्ण्य है। यह चातुर्वर्ण्य की सूक्ष्म और व्यापक कल्पना जाननेके पश्चात् ही वैदिक चातुर्वर्ण्यका भाव विदित हो सकता है। तात्पर्य कि जैसा चातुर्वर्ण्य आजकल समझा जाता है, वैसा केवल मनुष्योंमेंही नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक व्यष्टिमें और समष्टिमें विद्यमान है। व्यक्तिमें, समाजमें और जगतमें यह चातुर्वर्ण्य गुणकर्मशःही व्यापक है।

प्रत्येक प्राणिमात्रमें जो चातुर्वर्ण्य है, वह ब्रह्मचारीके देहमें भी है। अर्थात् इसके देहमें चार वर्ण एक दूसरेके साथ मिल जुल कर

रहते हैं, अनुकूल होकर रहते हैं । शरीर के अंदर ज्ञान ग्रहण करके ज्ञान संचय करनेवाले जो भाग हैं उनको देव किंवा ब्राह्मण समझिये। देहमें विरोधी दोषों को हटानेवाले जो सूक्ष्म संरक्षक विभाग होते हैं उनको क्षत्रिय मानिये । जो पोषक अंश होते हैं उनको वैश्य कह सकते हैं, और जो स्थूल भारवाहक अंश होंगे उनको शूद्र कहिये । शरीरमें मज्जा ब्राह्मण है, वीर्य क्षत्रिय है, रस वैश्य है और अस्थि शूद्र है, इनको आप चाहे अन्य शब्द भी प्रयुक्त कर सकते हैं, यहां केवल उक्त कथनका भाव ध्यानमें रखना चाहिये । चातुर्वर्ण्य के चार शब्द जो इस मंत्रमें आगये हैं, वे भी गुणकर्म बोधक तथा भाव बोधक ही हैं ।

मंत्रमें कहा है कि देव, पितर, गंधर्व और देवजन ये सब ब्रम्हचारीके अनुकूल होकर चलते हैं, अर्थात् अनुकूल बनकर अपना अपना कार्यव्यवहार करते हैं । यह जितना बाह्य समाजमें सत्य है, उससे कई गुणा अधिक शरीरके शक्तिकेंद्रोंके अंदर सत्य है । शरीर के अस्थि-रस-वीर्य-मज्जा आदि मूलभूत आधारतत्व ब्रह्मचारीके अनुकूल हो कर रहते हैं । ब्रम्हचारीके शरीरकी सब शक्तियां उसके अनुकूल रहती हैं । क्यों कि वह संयमी पुरुष होता है । शरीरमें अंगों, अवयवों, इंद्रियों और तत्वोंका चातुर्वर्ण्य है, वह सभी उसको अनुकूल होता है; यह बात अब पाठकोंके मनमें आगई होगी । उक्त रीतिसे विचार करनेपर इस वैदिक भाव का प्रकाश पाठकोंके मनमें पड़ सकता है, और वैदिक विचारकी सूक्ष्मता भी ज्ञात हो सकती है ।

(७) तीन और तीस देव !

अग्नि वायु इंद्र आदि बाह्य देवताओंमें चातुर्वर्ण्य है, इतना कहने मात्रसे शरीरके अंदरके देवतांशोंमें चातुर्वर्ण्य है, यह बात सिद्ध होही चुकी है; क्यों कि संपूर्ण देवताओंके अंश अपने शरीरमें विद्यमान हैं। अर्थात् जो उनके गुणधर्म बाहिर हैं, वेही अंदर हैं; इसमें विवाद नहीं हो सकता। अब इन देवताओंकी संख्या कितनी है, इसका उत्तर इस मंत्रने निम्नप्रकार दिया है।

त्रयः	— तीन	३
त्रिंशत्	— तीस	३०
त्रिशताः	— तीन सौ	३००
षट् सहस्राः	— छः हजार	६०००

पहिले मंत्रके स्पष्टीकरणके कोष्टकमें बतायाही है कि, नाभिसे निचला भाग पृथिवी स्थानीय, नाभिसे गले तक का भाग अंतरिक्ष स्थानीय और सिर द्युस्थानीय है। अर्थात् शरीरके अंदरके इन तीनों स्थानोंमें बाहिरके तीनों स्थानोंमें रहनेवाले सब देव हैं। वेदमें अन्यत्र कहा है कि, प्रत्येक स्थानमें ग्यारह ग्यारह देवता है, उनमें भी दस गौण और एक मुख्य है (इस विषयमें **" ३३ देवता " तथा " देवता विचार "** ये दोनों पुस्तक पाठक अवश्य देखें।)

सिरमें मस्तिष्क है उसका देवता सूर्य है। हृदयमें मन और उसका देवता चंद्र किंवा इंद्र है। तथा जठरमें अग्नि-देवता है। इसप्रकार तीनों स्थानोंमें ये तीन देवता मुख्य

हैं इस प्रत्येक देवता के आधीन दस गौण देवता हैं । तीन मुख्य और तीस गौण मिलकर ३३ देवता होते हैं । प्रत्येक देवता एक एक अंगमें रहता है । अर्थात् ३३ देवताओंके आधीन ३३ अंग हैं, इस भावको लेकर निम्नमंत्र देखिये—

(१) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवता अंगे सर्वे समाहिताः ॥१३॥

(२) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवता अंगे गात्रा विभेजिरे ॥
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥

(३) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा ॥
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ २३ ॥

अथ. १०।७

" (१) जिसके अंगमें तेतीस देव रहे हैं ॥ (२) जिसके अंगोंके गात्रों में तेतीस देव विशेष सेवा करते हैं, उन तेतीस देवोंको ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही केवल जानते हैं ॥ (३) तेतीस देव जिसका कोश सर्वदा रक्षण करते हैं, उस निधिको आज कौन जानता है । "

यह वर्णन परमात्मामें पूर्ण रूपसे और **जीवात्मामें अंश रूपसे लगता है** । क्यों कि यह बात पूर्व स्थलमें कही ही है कि, अग्नि इंद्र और सूर्य आदि देवता पूर्ण रूपसे परमात्माके साथ जगत्में हैं और अंश रूपसे जीवात्माके साथ शरीरमें हैं । परमात्माका व्यापकत्व और महत्व तथा जीवात्माका अव्यापकत्व और

अणुत्व, छोड़ दिया जाय, तो **तत्वरूपसे दोनोंका वर्णन एक जैसाही हुआ करता है** । वेदमें इसप्रकारके वर्णन सहस्रों स्थानोंमें है।

तीन और तीस देवोंका यह स्वरूप है । ये तेतीस देव मेरुपर्वत में रहते हैं । "**मेरुपर्वत**" पृष्ठ वंशही है जिसको रीढ़, मेरुदंड आदि कहते हैं । इस पृष्ठ वंशमें छोटी छोटी हड्डियां एकके ऊपर दूसरी ऐसी लगी हैं, और बीचके संधिपर्व में एक एक ग्रंथी है, जिस ग्रंथीमें इन देवतांशोंका स्थान है । योगमें जिस "**ग्रंथीभेदन**" का महात्म्य वर्णन किया है, वे ग्रंथियां येही हैं। प्राणायामादि साधनों द्वारा प्राणको इनमेंसे लेजाना होता है । योग साधनमें इस प्रत्येक स्थान का अत्यंत महत्व है । इन सब देवताओंकी ग्रंथियोंमेंसे गुजरकर मेरुपर्वत अथवा मेरुदंडके सबसे ऊपरके भागमें, मस्तिष्कके मध्यमें जब आत्माके साथ प्राण पहुंचता है, तब उस स्थितिको "**ब्रह्मलोक की प्राप्ति**" कहते हैं ।

ये तेतीस देवता अथवा तीन और तीस देवता ब्रह्मचारीके आधीन होते हैं, क्यों कि ब्रह्मचर्याश्रममें वीर्य रक्षण पूर्वक योगाभ्यासद्वारा इन सबको स्वाधीन ही करना होता है । इस लिये इस ब्रह्मचर्य सूक्तमें वारवार कहा है कि, **ये सब देव ब्रह्मचारीके अनुकूल रहते हैं । ब्रह्मचारी इन सब देवोंको पूर्ण तृप्त और स्वाधीन करता है** । पूर्ण करनेका तात्पर्य प्राणसे भरना और पूर्ण विकसित करना है ।

उक्त तेतीस देवोंसे भिन्न (त्रिशताः) तीनसौ देव हैं । तीन स्थानोंमें सौ सौ मिलकर तीनसौं होते हैं । मस्तिष्क के स्थानमें सौ,

हृदयके स्थानमें सौ और नाभिस्थानमें सौ, इस प्रकार ये " **शिवजीके त्रि–शत–गण** " होते हैं। साथ साथ (षट् सहस्राः) छः हजार भी हैं। पृष्ट वंशके साथ साथ छः चक्र हैं (१) गुदाके स्थानमें मूलाधार चक्र, (२) नाभिस्थानके पास स्वाधिष्ठान चक्र, और (३) मणिपूरक चक्र, (४) हृदयस्थानके पास अनाहत चक्र, (५) कंठ स्थानमें विशुद्धिचक्र और (६) दोनों भौंहोंके बीच में आज्ञाचक्र है। प्रत्येक चक्रमें सहस्रों शक्तियोंके अंश केंद्रित हुए हैं। इस प्रकार छः स्थानोंमें छः हजार शक्तियां बंट गयीं हैं। यहां " तीन सौ " और " छः हजार " यह संख्या गिनती की है अथवा बहुत्व दर्शक ही है इस विषयमें मुझे स्वयं कोई ज्ञान नहीं है। अनुभवी योगीही इसविषयमें कह सकता है। इसलिये इसविषयमें अधिक लिखना उचित भी नहीं है।

यह देवताओंकी संख्या वेदों और ब्राह्मणोंमें ३; ३३; ३३०; इसी प्रकार बढ़ाई है, सहस्रों, लाखों और करोडों तक यह गिनती गई है मस्तिष्क मज्जातंतुओंका मुख्य केंद्र है, उसके आधीन मस्तक, हृदय और नाभि ये तीन स्थान हैं; प्रत्येक स्थानमें दस दस गौण विभाग मिलकर तीस, उसके और सूक्ष्म सौ सौ विभाग मिलकर तीन सौ, इस प्रकार सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग अगणित हुए हैं। इनको करोड़ों में बांटना अथवा लाखोंमें बांटना यह केवल कल्पनागम्य ही होगा; प्रत्यक्ष गिनतीका कदाचित् न होगा। परंतु इस विषयमें सत्यासत्य निर्णय विशेष अधिकारी पुरुष ही कर सकता है।

इस प्रकार (१) **तीन,** (२) **तीस,** (३) **तीन सौ और** (४) **छः हजार** " देवताओंका स्वरूप, स्थान और महात्म्य है। ब्रम्हचारीके आधीन ये सब देव रहते हैं। जो ब्रम्हचर्य नहीं रखता और योगादि साधन नहीं करता, उसके आधीन उक्त देव रह नहीं सकते। जब ये देव स्वाधीन नहीं रहते, स्वेच्छासे अपना व्यवहार करने लगते हैं, तब बड़ी भयानक अवस्था हो जाती है। प्रत्येक इंद्रिय स्वच्छंद होनेसे मनुष्यकी अवस्था कितनी गिर सकती है, इसकी कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं।

ब्रह्मचर्य, वीर्य–रक्षण, सद्‌ग्रंथपठन, सत्समागम, उच्च विचारोंका धारण, यम नियम, ईश्वर उपासना आदि सब साधनोंसे यही करना है कि, अपने शरीरमें विद्यमान देवताओंके अंश अपने आधीन हो जांय; अर्थात् अपने अंदर की संपूर्ण शक्तियां स्वाधीन होकर आत्माकी शक्ति पूर्णतासे विकसित हो जाय।

इसप्रकार ब्रह्मचर्यकी परमसिद्धिका वर्णन इस मंत्रमें हुआ है। पाठक इस मंत्रके अर्थकी अधिक खोज करें और जहांतक हो सके वहां तक प्रयत्न करके इस दृष्टिसे अपनी उन्नति करनेका प्रयत्न करें

अब अगले तृतीय मंत्रमें, ब्रह्मचर्याश्रम में करने योग्य " तीन प्रकारके अज्ञानोंका निवारण " बताया है। साधारण मनुष्य तीन प्रकारके अज्ञानके अंधकारोंमें रहता है, उन तीनों अज्ञानों का निराकरण करना और तीनों ज्ञानोंकी प्राप्ति करना इस आश्रममें होता है। देखिये—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः ॥ ३॥

अर्थ-(१) ब्रह्मचारीको (उपनयमानः आचार्यः) अपने पास करनेवाला आचार्य उसको (अंतः गर्भं) अपने अंदर करता है। (२) उस ब्रह्मचारीको अपने उदरमें (तिस्रः रात्रीः) तीन रात्रि-तक रखता है, (३) जब वह ब्रह्मचारी (जातं) द्वितीय जन्म लेकर बाहेर आता है, तब उसको देखनेके लिये सब (देवाः) विद्वान् (अभि संयंति) सब प्रकारसे इकट्ठे होते हैं ॥

भावार्थ—(१) जो आचार्य ब्रह्मचारीको अपने पास रखता है, वह उसको अपने अंदरही प्रविष्ट करता है। (२) मानो वह शिष्य उस गुरुके पेटमेंही तीन रात्रि रहता है और उस गर्भसे उसका जन्म हो जाता है। (३) जब वह द्विज बन जाता है, तब उसका सन्मान सभी विद्वान् करते हैं।

(८) गुरुशिष्य-संबंध ।

इस मंत्रके पहिले अर्धभागमें कहा है कि, " जब आचार्य ब्रह्मचारी को शिष्य मानकर अपने पास रखता है तब वह उस को अपने अंदर कर लेता है। " यहां अंदर करनेका तात्पर्य केवल अपने

परिवार में अथवा कुलमें संमिलित करना इतनाही नहीं है, प्रत्युत उस विद्यार्थीको अपने हृदयमें रखना है। हृदयमें अथवा अपने गर्भमें रखनेका भाव यह है कि, उससे छिपाकर कुछभी नहीं रखता हैं। जिसका प्रवेश अपने घरमें अथवा परिवारमें होता है, उसको कोई बात छिपी नहीं रहती। परंतु इस ब्रह्मचारीका प्रवेश तो अंदरके गर्भमें होता है, इस लिये हृदयकी कोई बात उसे छिपी नहीं रहती। यही गुरुशिष्यका संबंध है। गुरु अपने शिष्यसे कोई बात छलकपटसे छिपाकर दूर न रखे, जो विद्या स्वयं प्राप्त की है, उसे पूर्ण रीतिसे शिष्यको पढावे; तथा शिष्यभी आचार्यके पेटमें रहकर भी उस गुरुको किसी प्रकार क्लेश न देवे।

(९) तीन रात्रीका निवास।

इस मंत्रका दूसरा कथन है कि " वह आचार्य अपने पेटमें उस ब्रह्मचारीको तीन रात्रिका समय व्यतीत होने तक धारण करता है। " उदरमें ब्रह्मचारीको धारण करनेका तात्पर्य पूर्वस्थलमें बताया ही है। यहां तीन रात्रिका भाव देखना है। मंत्रमें **" तीन दिन "** ऐसा नहीं कहा है, परंतु **" तिस्रः रात्रीः** (तीन रात्रियां) " ऐसा कहा है। रात्रि शब्द अंधकारका भाव बताता है, और अंधकार अज्ञान का बोधक स्पष्टही है। अर्थात् तीन रात्रियोंका तात्पर्य तीन प्रकारका अज्ञान है, इसलिये तीन रात्री गुरुके पास रहनेका आशय ऐसा विदित होता है, कि तीन प्रकारका अज्ञान दूर होने तक गुरुके पास निवास करना है। एक अज्ञान स्थूलसूक्ष्म सृष्टिविषयक होता है, दूसरा अज्ञान आत्माके विषयमें होता है और

तीसरा आत्मा अनात्माके संबंधके विषयमें अज्ञान होता है । इन तीनों अज्ञानोंको दूर करना ही विद्याध्ययनका उद्देश है । उक्त तीनों प्रकारके गाढ़ अज्ञान अंधकारकी रात्रिमें जीव सोते हैं । आचार्यकी कृपासे ज्ञान सूर्यका उदय होनेके कारण वह प्रबुद्ध शिष्य रात्रिका समय व्यतीत करके दिनके स्वच्छ और पवित्र प्रकाशमें आता है ।

यह तीन रात्रियोंका विषय कठ उपनिषदमें भी आया है । पाठक विस्तार पूर्वक वहांही देखें । यहां थोडासा दिग्दर्शन किया जाता है—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन् अतिथिर्नमस्यः ॥   कठ उ. १।९

यम नचिकेतासे कहता है कि " तू नमस्कार करने योग्य ब्राह्मण अतिथि मेरे घरमें तीन रात्रि रहा है " इसलिये—

त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥   कठ उ. १।९

" तीन वर प्राप्त करो । " तत्पश्चात् नचिकेताने तीन वर मांग लिये । उत्तरमें यम महाराजने (१) आत्मविद्या, (२) जगद्विद्या और दोनोंका संबंध बतानेवाली (३) कर्मविद्याही बतायी है । इस उपनिषदमें नचिकेताको विद्या देनेवाले गुरुका नाम " यम " है, इस ब्रह्मचर्य सूक्तके १४ वे मंत्रमेंभी " **आचार्यो मृत्युः** " अर्थात " आचार्य मृत्यु है " ऐसा स्पष्ट कहा है । इसलिये प्रतीत होता है कि, इस ब्रह्मचर्य सूक्तके साथ कठोपनिषद् का संबंध है, और कठोप-

निषद् की कथा का स्पष्टीकरण इस ब्रह्मचर्य सूक्तके स्पष्टीकरणसे होना संभव है । इसका विचार पाठक करें ।

मंत्रका तीसरा कथन है कि, " जब वह ब्रह्मचारी जन्म लेकर गुरुके उदरसे बाहर आता है, तब उसको देखनेकेलिये सब विद्वान् इकट्ठे होते हैं । " पूर्वोक्त तीन रात्रि समाप्त होने तक अर्थात् तीन प्रकारके अज्ञान दूर होने तक वह ब्रह्मचारी गुरुके पास रहता है, किंवा गुरुके आधीन रहता है । जब तीन प्रकारके अज्ञान दूर हो जाते हैं, तब वह स्वतंत्रतासे जगत् में संचार करने योग्य होता है । मंत्रके अंतिम चरणमें " जातं " पद है । इसका अर्थ " जिसने जन्म लिया है " ऐसा होता है । गुरु पिता है, और विद्या माता है । इस विद्यारूपी मातासे इस समय जन्म होता है । यह दूसरा जन्म है, इस विषयमें कहा है--

स हि विद्यातस्तं जनयति । तच्छ्रेष्ठं जन्म ।
शरीरमेव मातापितरौ जनयतः ॥ आप. ध. सू. १।१।१६-१७

" वह आचार्य विद्या से उस ब्रह्मचारीको उत्पन्न करता है । यह श्रेष्ठ जन्म है । मातापिता केवल शरीरही उत्पन्न करते हैं । "

इस प्रकार आचार्यद्वारा जो द्वितीय जन्म होता है, वही श्रेष्ठ जन्म है । इस जन्मको प्राप्त करनेसे ही द्विज अथवा द्विजन्मा बनते हैं । द्विज बननेसे सर्वत्र सन्मान होना योग्य ही है । गुरुकुलोंसे इस प्रकार द्विज बननेके पश्चात् स्नातक जब अपने अपने घर वापस आजाते हैं, तब वहांके लोग उनका बहुत सन्मान करते हैं ।

इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति ॥ ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥४॥

अर्थ—(इयं पृथिवी) यह पृथिवी पहिली (समित्) समिधा है, और (द्वितीया) दूसरी समिधा (द्यौः) द्युलोक है । इस (समिधा) समिधासे वह ब्रह्मचारी अंतरिक्ष की (पृणाति) पूर्णता करता है । समिधा, मेखला, श्रम करनेका अभ्यास और तप इनके द्वारा वह ब्रह्मचारी सब (लोकान् पिपर्ति) लोकोंको पूर्ण करता है॥

भावार्थ—पृथिवी और द्युलोक इनकी समिधाओंसे ब्रह्मचारी अंतरिक्ष की पूर्णता करता है । तथा ब्रह्मचारी श्रम और तप आदि करके सब जनताको आधार देता है ।

(१०) शरीरमें त्रिलोकी ।

पृथिवी, अंतरिक्ष और द्युलोक के जो अंश शरीरमें हैं उनके उद्देश्यसे यहां ये पद आये हैं । इसका विचार करनेके लिये पहिले मंत्रमें दिया हुआ कोष्टक देखिये । उस कोष्टकमें सारांश रूपसे बताया है, कि शरीरमें द्युलोक सिर ही है, हृदय अंतरिक्ष लोक है, और नाभिसे नीचला भाग भूलोक है । अर्थात् पृथिवी अंतरिक्ष और द्युलोकसे क्रमपूर्वक नाभिका नीचला भाग, हृदय और सिर

है। " ब्रह्मचारी दो समिधाओंका उपयोग करके तीसरेकी पूर्णता करता है" यह मंत्रका कथन कितना सत्य है, इसका अनुभव यहां देखिये। शरीरमें द्युलोक सिरही है, सिरका काम मनन करना ज्ञान लेना, सार असार विचार करना है। सिर स्थानीय सब इंद्रियोंका कार्य भी "**ज्ञान-यज्ञ**" करना ही है। इस द्युलोक की ज्ञानमय समिधाके हवनसे वह ब्रह्मचारी हृदय स्थानीय अंतरिक्ष लोक की तृप्ति करता है। नाभिस्थानके नीचे भूमिस्थान है, पेटमें अन्न रस आदि जो जाते हैं, उनका ग्राह्य अंशका स्वीकार और त्याज्य अंशका त्याग नाभिस्थानमें होता है। इस स्थानमें अन्यभी बहुतसे व्यापार होते हैं उनका अनुसंधान पाठक स्वयं कर सकते हैं। इस अन्नरसग्रहणरूप समिधासेभी वह ब्रह्मचारी अंतरिक्ष स्थानीय हृदयकी तृप्ति करता है।

पृथिवी की प्रथम समिधासे "**भोग**" और द्युलोककी द्वितीय समिधासे "**ज्ञान**" का तात्पर्य यहां अभीष्ट है। ज्ञान और भोग इन दोनों समिधाओंके द्वारा अंतरिक्ष स्थानीय हृदय की संतुष्टि और पूर्णता करना ब्रह्मचारीका उद्देश है। इस मंत्रके "**पृथिवी अंतरिक्ष और द्यौः**" ये तीनों शब्द बाह्य लोकोंके वाचक नहीं है, क्योंकि द्युलोक तो इसको अप्राप्यही है। इसकारण अपने अंदरके स्थानोंका ही भाव यहां लेना उचित है। सभी शिक्षा प्रणाली हृदयकी शुद्धता के लिये ही होनी चाहिये। केवल भोगोंकी समृद्धि अथवा केवल ज्ञान समृद्धि होनेसेभी कार्य नहीं होगा; केवल उदर पोषण अथवा केवल ग्रंथावलोकन होनेसे कार्य भाग नहीं हो सकता;

परंतु जब हृदयकी शुद्धि, पवित्रता और निर्मलता होगी, तभी जीव-नोद्देश्य की पूर्ती होती है। इस उद्देश्यकी स्पष्टता करनेके लिये यह मंत्र है। भूमिके भोग और द्युलोक का ज्ञान इन दोनों का उपयोग अंतः-करण की शुद्धि करनेके लिये ही होना चाहिये। जगत्में शांति स्थापित होनेका यही एक साधन है। साधारण लोग केवल ज्ञान विज्ञान का प्रचार करते हैं, अथवा भोग बढ़ानेमें प्रवृत्त होते हैं; परंतु वेद यहां सबको सावधान कर रहा है, और स्पष्टतासे बता रहा है कि, इन "भोग और ज्ञान" का समर्पण जब हृदयकी पूर्णता के लिये होगा; तभी मानवजातीकी सच्ची उन्नति हो सकती है। इस मंत्रभागसे पाठक बहुत बोध ले सकते हैं।

(११) श्रमका तत्वज्ञान।

अब अगले मंत्र भागमें कहा है कि, "ब्रम्हचारी अपनी समिधा, मेखला परिश्रम और तपसे सब लोकोंका सहारा देता है।" समिधा शब्दका अर्थ पूर्व स्थलमें बताया ही है। "मेखला" कटिबद्ध होनेकी सूचना दे रही है। जनताके हित के कार्य तथा सबकी उन्नतिके कार्य करनेके लिये और अपने अभ्युदयनिश्रेयस् का साधन करनेके लिये ब्रह्मचारीको सदा "**कटिबद्ध**" रहना चाहिये। "**श्रम**" का तात्पर्य परिश्रम है, सब प्रकारके पुरुषार्थ करना परिश्रमसे ही साध्य हो सकता है; वेदमें कहा ही है कि—

न ऋते श्रांतस्य सख्याय देवाः ॥

ऋ. ४।३३।११॥

" श्रम किये बिना देव सहायता नहीं करते " तथा ऐतरेय ब्राह्मणमें कहा है, कि—

नाऽनाश्रांताय श्रीरस्ति । पापो नृषद्वरो जन
इन्द्र इच्चरतः सखा । चरैवेति चरैवेति ॥ १ ॥
पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः ।
शेरे अस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ।
चरैवेति चरैवेति ॥ २ ॥
आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ॥
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥
चरैवेति चरैवेति ॥ ३ ॥
कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥
चरैवेति चरैवेति ॥ ४ ॥
चरन्वै मधु विंदति चरन्स्वादुमुदुंबरम् ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तंद्रयते चरन् ॥
चरैवेति चरैवेति ॥ ५ ॥

ऐत. ब्रा. ७।१६

" (१) श्रम किये विना श्रीकी प्राप्ति नहीं होती । सुस्त मनुष्यही पापी है । पुरुषार्थीका मित्र ईश्वर है । इसलिये प्रयत्न करो, पुरुषार्थ करो ॥ (२) जो चलता है उसकी जांघें पुष्ट होतीं हैं, फल मिलने तक प्रयत्न करनेवालेका आत्मा प्रभावशाली होता

है । प्रयत्न करनेवालेके पाप भाव मार्गमें ही मर जाते हैं । इस कारण प्रयत्न करो और श्रम करो ॥ (३) जो बैठता है उसका दैव बैठता है, जो खड़ा होता है उसका दैव खड़ा होता है, जो सोता है उसका दैव सो जाता है तथा जो चलता है उसका दैव भी पास आजाता है । इसलिये प्रयत्न करो, परिश्रम करो ॥ (४) सो जाना कलियुग है, आलस्य छोड़ना द्वापरयुग है, उठना त्रेतायुग है और पुरुषार्थ करना कृतयुग है । इस लिये पुरुषार्थ करो ॥ (५) मधुमक्खी चलकर मधु प्राप्त करती है, पक्षी भ्रमण करनेसे ही मीठा फल प्राप्त करते हैं । सूर्यकी जो शोभा है वह उसके निरलस भ्रमण के कारण ही है । इसलिये प्रयत्न करो, परिश्रम करो ॥ "

इस प्रकार परिश्रम करनेका उपदेश ब्राह्मणकार करते हैं । हर-एक मनुष्यके लिये यह उपदेश स्मरण रखने योग्य है । तथा—

श्रमयुवः पदव्यो धियं धास्तस्थुः
पदे परमे चार्वग्नेः ॥ ऋ. १।७२।२

"(श्रम—युवः) परिश्रम करनेवाले, (पद—व्यः) मार्गपर चल-नेवाले (धियं—धाः) धारणावती बुद्धिको धारण करनेवाले पुरुषार्थी लोगही (अग्नेः परमे पदे) आत्माग्निके सुंदर परम स्थानको प्राप्त करते हैं । " तथा—

श्रान्ताय सुन्वते वरूथमस्ति ।

ऋ. ८।६७।६

" परिश्रम करके यज्ञ करनेवालेके लिये ही [ईश्वरका] संरक्षण प्राप्त होता है । " इसप्रकार परिश्रमका महत्व वेद वर्णन करता है ।

परिश्रम करनेवाला, पुरुषार्थ प्रयत्न करनेवाला मनुष्य अपना तथा जनताका अभ्युदय कर सकता है। अब तपके विषयमें थोडासा लिखना है, देखिये तपका स्वरूप कितना व्यापक है—

ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः, शान्तं तपो, दमस्तपः, शमस्तपो, दानं तपो, यज्ञस्तपो, भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः ॥ तै. आ. १०।८

" ऋत, सत्य, अध्ययन, शांति, इंद्रिय दमन, मनोविकारोंका शमन, दान, यज्ञ, (भूः) अस्तित्व, (भुवः) ज्ञान, (स्वः) आनंद आदि सब तप ही है। " विचार करनेसे पता लग जायगा कि, जन्मसे लेकर मरनेतक हरएक योग्य प्रयत्न तप ही है। तपसेही हम सब जीवित रहते है, तपसे उन्नति करते हैं, तपसे ही उच्च अवस्थामें पहुंचते है और तपसेही अपना तथा जनताका अभ्युदय साध्य किया जाता है। इसलिये ही वेदने इस मंत्रमें कहा है कि, " **ब्रह्मचारी श्रम और तपसे सब लोकोंको पूर्ण उन्नत करता है।** " यदि ब्रह्मचारी श्रम न करेगा, और तप न आचरेगा, तो न उसकी उन्नतिही हो सकती है, और न वह दूसरों का भलाही कर सकता है। (१) आत्मशक्तिकी समिधा अर्पण करनी है, (२) सदा कटिबद्ध रहकर जनताके हितके लिये परम पुरुषार्थ करना है, (३) आनंदसे परिश्रम करके प्रारंभ किया हुआ शुभ कर्म समाप्त करना है, तथा (४) सत्यनिष्ठा पूर्वक सब योग्य श्रेष्ठ कार्य करते हुए जो कष्ट होंगे, उनको शांतिके साथ सहन करना और फल प्राप्त होने तक प्रारंभ किये हुए शुभ कार्य को बीचमें ही न छोडना, ये बोध इस मंत्र द्वारा प्राप्त हो रहे हैं।

(१२) मृत्यु स्वीकारनेकी सिद्धता।

इस मंत्रके विचार करनेके अवसर पर निम्न मंत्र देखिये—

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन्
भूतात्पुरुषं यमाय॥ तमहं ब्रह्मणा तपसा
श्रमेणानैयनं मेखलया सिनामि॥

अ. ६। १३३।३

" (मृत्योः ब्रह्मचारी) मैं मृत्युको समर्पित हुआ हुआ ब्रह्मचारी हूं। इस लिये (भूतात्) मनुष्योंसे यमके लिये और एक पुरुषकी (याचन्) इच्छा करता हूं। [जो पुरुष आयेगा] उसको भी मैं (ब्रह्मणा) ज्ञानसे, तपसे, परिश्रमसे और इस मेखलासे (सिनामि) बांधता हूं। "

ब्रह्मचारीका संबंध मृत्यु अथवा यमसे है, इस बातका कथन इस मंत्रमें भी है। ब्रह्मचारी भी समझता है कि, मैं अब मातापिताका नहीं हूं, परंतु मृत्युको समर्पित हो चुका हूं। अर्थात् घरके प्रलोभन दूर हो चुके हैं। पहिले जन्मसे प्राप्त शरीरका मृत्यु होनेके पूर्व दूसरा जन्म प्राप्त नहीं हो सकता। इस लिये जो " **द्वि-जन्मा** " होते हैं, उनको " द्विज " होनेके पूर्व एकवार मृत्युके वश होना ही चाहिये। इस प्रसंगमें आचार्यही मृत्युका कार्य करता है। मातापितासे प्राप्त शारीरिक और मानसिक स्थितिमें योग्य परिवर्तन करना तथा उसको सुयोग्य बनाना आचार्यका कार्य है। कठोपनिषद्में भी इसी दृष्टिसे गुरुके स्थानमें मृत्युको ही माना है। ब्रह्मचर्य सूक्तमें भी " **आचा-**

येको मृत्यु " ही कहा है । तथा इस मंत्रमें स्वयं ब्रह्मचारी कहता है कि " मैं अब मृत्युको समर्पित हुआ हूं । " इस प्रकारका मृत्युको समर्पित हुआ ब्रह्मचारी गुरुकुलका विद्यामृत पान करता हुआ आनंदसे कह रहा है कि " मैं जनतासे और भी पुरुष इसी प्रकार मृत्युको (आचार्यको) समर्पित करनेकी इच्छा करता हूं । " अर्थात् ब्रह्मचारीकी यह भावना चाहिये कि, वह अपने गुरुकुलमें और और ब्रह्मचारी आकर्षित करे । इतना योग्य बने कि उसको देखकर अन्य विद्यार्थी वहां जावें । ब्रह्मचारियोंका परस्पर संबंध भी " ज्ञान, तप, परिश्रम, " आदि उच्च भावोंका ही होना चाहिये । एक ब्रह्मचारीका दूसरे सहपाठीसे यही संबंध है । अर्थात् एक ब्रह्मचारी दूसरेको ज्ञान देवे, जो स्वयं जानता है, वह दूसरेको समझावे । दूसरोंके हितार्थ परिश्रम करे और दूसरेका हित करनेके लिये स्वयं क्लेश भी सहन करे ।

सब ब्रह्मचारी अपने आपको मृत्युके लिये समर्पित समझें, तथा ब्रह्मचारियोंके मातापिता भी समझें कि हमने अपने पुत्रको मृत्युके लिये ही समर्पित किया है । क्योंकि गुरुकुलमें प्रविष्ट हुआ ब्रह्मचारी अब संपूर्ण जनताका ही होचुका है ! वह अब केवल माता पिताओंकाही नहीं रहा । वह अब संपूर्ण जनताका पुत्र है, जनता उसकी माता है, राष्ट्र उसका पिता है ! ! इतनाही नहीं परंतु अब वह ब्रह्मचारी ही स्वयं अपने आपको मृत्युको समर्पित समझने लगा है ! ! ! जो आनंदसे मृत्युको ही स्वीकारने के लिये कटिबद्ध होता है, जो अपने अस्थियोंकी समिधा बनाने के लिये सिद्ध होचुका है, जो अपने वीर्य बल पराक्रम के आज्यसे राष्ट्रीय

नरमेधमें आहुतियां देनेके लिये उत्सुक है, तथा जो आत्म सर्वस्वकी पूर्णाहुति हाथमें लेकर तैयार है, उसको अन्य क्लेश सता नहीं सकते, परिश्रमोंके भयसे वह स्वकार्यसे परावृत्त नहीं हो सकता। यह है ब्रह्मचारीका पराक्रम; अब और देखिये—

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसान स्तपसोदतिष्ठत् ॥ तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ५ ॥

अर्थ—(१) (ब्रह्मणः पूर्वः) ज्ञान के पूर्व (ब्रह्मचारी जातः) ब्रह्मचारी होता है। (२) (घर्मं वसानः) उष्णता धारण करता हुआ तपसे (उत्+अतिष्ठत्) ऊपर उठता है। (३) उस ब्रह्मचारीसे (ब्राह्मणं ज्येष्ठं ब्रह्म) ब्रह्म संबंधी श्रेष्ठ ज्ञान (जातं) प्रसिद्ध होता है (४) तथा सब देव अमृत के साथ होते हैं ॥

भावार्थ—(१) ज्ञान प्राप्तिके पूर्व ब्रह्मचारी बनना आवश्यक है। (२) ब्रह्मचर्यमें श्रम और तप करनेसे उच्चता प्राप्त होती है। (३) इस प्रकारके ब्रह्मचारीसे ही परमात्माका श्रेष्ठ ज्ञान प्रसिद्ध होता है, तथा (४) देव अमरत्वके साथ संयुक्त होते हैं।

(१३) ज्ञानप्राप्तिकी पूर्व तैय्यारी ।

ब्रह्मचर्यकी अवस्था ज्ञान के पूर्व की है। प्रथम वह ब्रह्मचारी बनता है, तत्पश्चात् वह ज्ञान लेने लगता है, और बहुत समय, परिश्रम और कष्टोंके पश्चात् वह ज्ञान प्राप्त करता है। पूर्णतासे ज्ञान प्राप्त होनेके पश्चात् वह गृहस्थी संन्यासी आदि हो सकता है। धर्म अर्थ काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। संन्यासी मोक्षका अधिकारी हैं, क्यों कि वह पूर्ण रूपसे स्वतंत्र है। गृहस्थी अर्थ किंवा धन प्राप्त करनेके पश्चात् कामोपभोग लेनेका अधिकारी है। परंतु ये तीनों पुरुषार्थ धर्मका ज्ञान होनेके पश्चात् सुसाध्य हो सकते हैं। उस धर्मका ज्ञान ब्रह्मचर्याश्रममें प्राप्त होता है। इस प्रकार सब सुखों और उन्नतियोंका आधार ब्रह्मचर्य है।

(१४) तपसे उन्नति ।

ब्रह्मचर्यमें " घर्म और तप " का जीवन व्यतीत करना चाहिये। गर्मी--उष्णता--का नाम घर्म है और योग्य व्यवहार करनेके समय जो क्लेश होते हैं, उनको आनंदसे सहन करने का नाम तप है। इन दोनों के सहाय्यसे ही हरएक की उन्नति होती है। शीत उष्ण सहन करनेसे शरीर का आयुष्य बढ़ता है, हानिलाभ का ध्यान छोड़ कर कर्तव्य तत्पर होनेसे फलसिद्धितक कार्य करनेका उत्साह कायम रहता है। इसी प्रकार अन्य द्वंद्व सहन करनेसे अपना बल बढ़ जाता है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, और आत्मिक बल बढ़नाही उच्चता प्राप्त होनेका फल है। यही बात " **घर्मं वसानः, तपसा**

उद्तिष्ठत्।" अर्थात् "उष्णता धारण करके कष्ट सहन करनेसे उच्च होता है" इस मंत्र भागमें स्पष्टतासे कही है।

(१५) श्रेष्ठ ज्ञान का प्रचारक।

ब्रह्मचारी ही श्रेष्ठ ज्ञानका प्रचार करता है। पूर्वोक्त प्रकार ब्रह्मचर्यके सुनियमोंका पालन करनेके पश्चात् जब वह, ज्ञानी बनता है, और अपनी योग्यता उच्च बनाता है, तब उससे श्रेष्ठ ज्ञानका प्रचार होता है; यह भाव "**तस्मात् ज्येष्ठं ब्रह्म जातं।**" इस मंत्रभागमें कहा है। ज्ञानका प्रचार होनेके पूर्व जिस प्रकारकी योग्यता चाहिये, उस प्रकारकी योग्यता इस मंत्रमें कही है। सत्य धर्मज्ञानके प्रचारक, वैतनिक हों अथवा अवैतनिक हों, परंतु वे उक्त प्रकारसे ब्रह्मचयका पूर्णता करनेवाले चाहियें। उक्त प्रकार ब्रह्मचर्य समाप्त करके श्रम और तपसे अपनी उच्चता जिन्होंनें प्राप्त की है उस प्रकारके धर्मोपदेशकोंसे ही ब्रह्मसंबंधी श्रेष्ठ ज्ञानका प्रचार हो सकता है। अन्य उपदेशक सत्यधर्मके प्रचार केलिये योग्य नहीं हैं।

तथा वही ज्ञानी और अनुष्ठानी ब्रह्मचारी "**देवाः अमृतेन साकं**" सब देवों को अमरपनके साथ मिला देता है। यहां "देव" शब्दसे व्यवहार करनेवाले सज्जन लेना युक्त है। "भूदेव" ब्राह्मण हैं, वीरोंका नाम "क्षात्रदेव" है, वैश्योंको "धनदेव" कहते हैं, तथा शूद्रोंको "कर्मदेव" कहते हैं। ये चारों प्रकारके तथा निषाद आदि पंचम "वनदेव" भी उक्त ब्रह्मचारीके उपदेशसे अमरपन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सबको अमृत प्रदान करना,

इस प्रकारके सुयोग्य सुज्ञ धर्मज्ञानी उपदेशक को ही साध्य हो सकता है, इसलिये वेदमें अन्यत्र कहा है—

ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुदक्रामत् । तं पुरं प्रणयामि वः, तामा विशत, तां प्रविशत । सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ अथ. १९।१९।७

ब्रह्मचारियोंसे ही ज्ञानकी उत्क्रांति होती है । उस ज्ञानकी नगरीमें आपको मैं ले जाता हूं । उसमें प्रवेश कीजिये, उसमें घुस जाइये । वह ज्ञानकी नगरी ही आपको सुख और संरक्षण देवे । "

यह ज्ञानका महत्व है । पूर्वोक्त प्रकारके सच्चे ब्रह्मचारी ही इस ज्ञानकी उन्नति करते हैं । अन्य वेतनेच्छुक उपदेशकोंसे यह पवित्र कार्य नहीं हो सकता । यह ज्ञानकी नगरी ज्ञानियोंके विचार क्षेत्र में हुआ करती है । जो सज्जन उस विचार क्षेत्र में पहुंच जाते हैं, उसमें घुस जाते हैं और वहां निवास करते हैं, उन्हें ही सच्चा सुख और सच्चा संरक्षण प्राप्त हो सकता है । इस ज्ञानकी नगरीका मार्ग ब्रह्मचर्य आश्रम ही है । कोई दूसरा मार्ग इस नगरी तक नहीं जाता ।

वास्तविक रीतिसे हरएक को इस पवित्र भूमिमें जाना चाहिये । जो इसमें प्रविष्ट होता है वह देवताका अंश बनजाता है, देखिये—

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमंगम् ॥ ऋ. १०।१०९।५; अथ. ५।१७।५

" ब्रह्मचारी (विषः) सत्कर्मोंको (वेविषत् चरति) करता हुआ चलता है, इसलिये वह देवोंका एक अंग बन जाता है । "

ब्रह्मचारी नियमानुकूल व्यवहार करता है तथा सत्कर्म दक्षतापूर्वक करता है, इसलिये वह देवोंका अवयव, भाग किंवा अंग समझा जाता है। कोई उसको साधारण मनुष्य न समझे। ब्रह्मचारी साधारण मनुष्य नहीं है वह देवोंका अंग है। परंतु जो नियमानुकूल चलनेवाला होता है वही इस प्रकार श्रेष्ठ है, न कि नकली ब्रह्मचारी श्रेष्ठ होता है। अब श्रेष्ठ ब्रह्मचारीके कर्तव्य देखिये—

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं
वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः॥
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं
लोकान्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥ ६॥

अर्थ—(१) (समिधा समिद्धः) तेजसे प्रकाशित (कार्ष्णं वसानः) कृष्ण चर्म धारण करता हुआ, (दीक्षितः) व्रतके अनुकूल आचरण करनेवाला और (दीर्घ श्मश्रुः) बड़ी बड़ी दाढी मूँछ धारण करनेवाला ब्रह्मचारी (एति) प्रगति करता है। (२) (सः) वह (लोकान् संगृभ्य) लोगोंको इकट्ठा करता हुआ अर्थात् लोक संग्रह करता हुआ और (मुहुः) वारंवार उनको (आचरिक्रत्) उत्साह देता है और (३) पूर्वसे उत्तर समुद्रतक (सद्यः एति) शीघ्रही पहुंचता है।

भावार्थ—(१) समिधा कृष्णाजिन आदिसे सुशोभित होता हुआ, बड़ीबड़ी दाढ़ी मूँछ धारण करनेवाला तेजस्वी ब्रम्हचारी नियमानुकूल आचरण करनेके कारण अपनी प्रगति करता है। (२) अध्ययन समाप्तिके पश्चात् धर्म जागृति करता हुआ अपने उपदेशोंसे जनतामें उत्साह उत्पन्न करता है और वारंवार उनमें चेतना बढ़ाता है। (३) इस प्रकार धर्मोपदेश करता हुआ वह पूर्व समुद्रसे उत्तर समुद्रतक पहुंचता है।

(१६) सीधासाधा रहना और उच्च विचारोंका प्रचार करना।

मंत्रके पूर्वार्धमें ब्रह्मचारीका रहना सहना अत्यंत सीधा साधा होनेकी सूचना दी गई है । काला कंबल अथवा कृष्णाजिन ही उसका ओढ़नेका वस्त्र है, शीत निवारणार्थ अग्निजलानेका साधन समिधायें सिद्ध हैं, हजामत आदिका झंझट नहीं है। इस प्रकार का सीधासाधा ब्रह्मचारी होना चाहिये । जहां तक सीधेसाधे पन का अवलंबन होना संभव होगा, उतना होना आवश्यक है। खादीका लंगोट, खादीका धोती, उत्तरीय और कुडता, काला कंबल यही ब्रह्मचारीका पोशाक है। इस प्रकार सादीदगीके साथ ब्रह्मचर्य नियमोंका उत्तम प्रकारसे पालन करता हुआ, अपने आपको पवित्र बनानेके कर्म में दत्तचित होकर, विद्याध्ययन बड़ी मेहनतसे करता है और सुफलता के साथ सफलता प्राप्त करता है। इस रीतिसे विद्याध्ययन समाप्त करनेके पश्चात् वह जनपदमें भ्रमण

करता है, और लोक संग्रह करता है। एकविचारसे लोगोंको एकत्रित करके, उनको महान कार्यमें प्रवृत्त करना "**लोक—संग्रह**" का तात्पर्य है। जनता की उन्नति करनेके लिये इसप्रकार वह कार्य करता है, वारंवार भ्रमण करके व्याख्यानादिद्वारा वह सर्वत्र जागृति कर देता है। पूर्वसे उत्तर समुद्र तक वह प्रचार करते करते पहुंच जाता है, अर्थात् पूर्व अवस्थासे उच्चतर अवस्थातक वह स्वयं पहुंचता है, और जनताको पहुंचाता है। इसप्रकार ब्रम्हचर्याश्रमरूपी पूर्व अवस्थासे गृहस्थाश्रम रूपी उत्तर अवस्थाको वह प्राप्त करता है।

"**समुद्र**" (सं+उत्+द्रु) शब्द हलचलका वाचक है (सं) एक होकर (उत्) उत्कर्षके लिये (द्रु) गति अथवा हलचल करनेका नाम समुद्र है। इस समुद्र में अब वह अपनी नौका चलानेको सिद्ध होता है। जनताकी उन्नति करनेके लिये जो जो हलचल करना आवश्यक है वह हलचल अब वह करने लगता है। इसका विचार अगले मंत्रमें देखिये—

ब्रह्मचारी जनयन्ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं
परमेष्ठिनं विराजम्॥ गर्भो भूत्वाऽमृतस्य
योनाविंद्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥ ७ ॥

अर्थ—जो (अमृतस्य योनौ) ज्ञानामृतके केंद्रस्थानमें (गर्भः भूत्वा) गर्भरूप रहकर ब्रह्मचारी हुआ, वही (ब्रह्म) ज्ञान, (अपः)

कर्म, (लोकं) जनता, (प्रजा-पतिं) प्रजापालक राजा और (विराजं-परमेष्ठिनं) विशेष तेजस्वी परमेष्ठी परमात्मा को (जनयन्) प्रकट करता हुआ, अब (इंद्रः भूत्वा) इन्द्र बनकर (ह) निश्चयसे (असुरान् ततर्ह) असुरोंका नाश करता है ।

भावार्थ--जो एक समय आचार्यकेपास विद्यामाताके गर्भ में रहता था, वही ब्रह्मचारी विद्याध्ययनके पश्चात् ज्ञान, सत्कर्म, प्रजा और राजाके धर्म, और परमात्माका स्वरूप इन सबका प्रचार करता रहा; अब वही शत्रुनिवारक वीर बनकर शत्रुओंका नाश करता है ।

(१७) ब्रह्मचारी की हलचल ।

प्रथम अवस्थामें ब्रह्मचारी मातापिता और घरबारके मोह जालको तोडकर, अपने आपको मृत्युके लिये समर्पित समझ कर, सब प्रकारके कष्ट और क्लेश सहन करनेके दृढ निश्चयकेसाथ, गुरु कुलमें निवासकर विद्याकी प्राप्तिके कार्यमें लगा हुआ था। इसी अवस्थामें वह विद्यासमाप्ति तक रहा, सीधा साधा रहना सहना और उच्चविचार करना यही स्वभाव उसका बनगया था। जब वह विद्याके गर्भसे बाहिर आगया अर्थात् जब वह द्विज बना, तब वह (ब्रह्म) सत्यज्ञानका प्रचार करने लगा, सत्यज्ञान के प्रचार से लोगोंको (अपः) सत्कर्मों का उपदेश उसने दिया । सत्यज्ञान और सत्कर्मका ज्ञान जनतामें होने से जनतामें स्वकर्तव्य जागृति उत्पन्न होगई। स्वकीय परिस्थितिकी जागृतिसे (लोकं) लोगोंको अपने वास्तविक स्थान का पता लगा । हमारा जन्मसिद्ध अधिकार यह है, यह हमारी योग्यता है, हमारी उन्नति इस रीतिसे हो सकती है, इत्यादि बातोंका ज्ञान जनतामें हुआ । इतनाही करके

वह ब्रह्मचारी चुप न रहा, परंतु उसने (प्रजा-पतिं) प्रजाके पालन करनेवालेके धर्मभी बताये। राजाको इस प्रकार वर्ताव करना चाहिये, अधिकारियोंके ये कर्तव्य हैं, इत्यादि सब उत्तम प्रकारसे बताया। साथ साथ परमेष्ठी परमेश्वरका स्वरूप भी लोगोंको बताया। जगत्-का सच्चा नियंता वह एक ही परमेश्वर है, उसके सन्मुख राजा और प्रजाके प्रत्येक मनुष्यको खड़ा रहना है, वही सबका सच्चा न्यायकारी है, इसलिये उसी को सर्वोपरि मानना उचित है, इत्यादि सत्य व धर्मानुकूल तत्वोंका उन्होंने उपदेश किया।

इसप्रकार ब्रह्मचारीके द्वारा जो जागृति होगई, उससे राष्ट्रके सब लोगोंको पता लगा कि, ये सुर हैं और ये असुर हैं। असुरोंको दूर करने और सुरोंके अधिष्ठातृत्वमें राष्ट्र रहे बिना सत्यधर्मकी स्थिरता नहीं होसकती। ऐसा निश्चय होते ही सब जनताने उसीको अपना इंद्र अर्थात् प्रमुख बनाया। और अब वह असुरोंको दूर करनेकी तैयारीमें लगा है। पहिले जो केवल ज्ञान प्रचारके कार्य करता था, वही अब क्षात्र धर्मका पुरस्कार करने लगा है। "इन्द्र" शब्द "(इन्) शत्रु-ओंका (द्र) विदारण करनेवाला" इस अर्थमें यहां है। इस मंत्रसे ज्ञात होता है, और अनुमान होता है कि, ब्रम्हचर्य अवस्थामें जो अध्ययन होता है, उसमें ब्रम्हवर्चस् के साथ ही क्षात्रतेजका भी संवर्धन होना आवश्यक है। हरएक ब्रम्हचारीको ब्रम्ह-क्षत्रत्वका पूर्ण अध्ययन करना चाहिये। जनताके हित करते समयमें जो जो कार्य आवश्यक होंगे, उनको उत्साहके साथ करनेका बल और ओज उसमें चाहिये। यह आशय यहां इस मंत्रमें प्रतीत होता है।

अब वही ब्रह्मचारी इंद्र अर्थात् क्षात्र दलका मुखिया बन कर **(असुरान् ततर्ह)** असुरोंको भगा देता है । **" ततर्ह "** शब्द विनाश करनेके अर्थमें ही प्रयुक्त होता है । असुर वे होते हैं कि, जो संपूर्ण जनताको उपद्रव देनेवाले होते हैं । श्रीमद्भगवद्गीतामें अ. १६ श्लो. ९ से १८ तक असुरों के लक्षण कहे हैं । " निरीश्वर वादी, नास्तिक, गर्विष्ट, घमंडी, स्वार्थी, दुष्ट, भोगी, कामी, क्रोधी, अत्याचारी, क्रूर " आदि असुरोंके लक्षण वहां दिये हैं । सब घातक प्रवृत्तिके लोग असुर होते हैं । सब जनता इनसे त्रस्त होती है, इसलिये उक्त ब्रह्मचारी जनताका मुखिया बनकर इस प्रकारके असुरोंको दूर करके जनताको शांति देता है । यही ब्रम्हचारीका आत्मयज्ञ है । अब और देखिये—

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गंभीरे पृथिवीं दिवं च ॥ ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन्देवा संमनसो भवन्ति॥ ८ ॥

अर्थ—(इमे) ये (उर्वी गभीरे) बडे गंभीर (उभे नभसी) दोनों लोक (पृथिवीं दिवं च) पृथिवी और द्युलोक आचार्यने (ततक्ष) बनाये हैं । ब्रह्मचारी अपने तपसे (ते रक्षति) उन दोनोंका रक्षण करता है । इसलिये (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारीके अंदर सब देव अनुकूल मनके साथ रहते हैं ।

भावार्थ—आचार्य ही पृथ्वीसे लेकर द्युलोक तक सब पदार्थोंका ज्ञान ब्रह्मचारीको देता है, मानो वह अपने शिष्यके लिये ये लोकही बना देता है। ब्रह्मचारी अपने तपसे उनका संरक्षण करता है। इस लिये उस ब्रह्मचारीमें सब देवता अनुकूल हो कर रहते हैं।

(१८) त्रिभुवन कर्ता आचार्य।

इस सूक्तके प्रथम व्याख्यान के प्रसंगमें बताया है कि, पृथिवी अंतरिक्ष और द्युलोक जैसे बाहिर हैं वैसे शरीरमें भी हैं। मस्तक का नाम द्युलोक, हृदय स्थानका नाम अंतरिक्ष और पेटसे निचले भागका नाम भूलोक है। मंत्रमें कहा है कि, " **आचार्यः ततक्ष** " अर्थात् " आचार्य आकार बनाता है। " " **तक्ष्** " धातुका अर्थ " तर्खाणके हथियारोंसे काम करना, आकार बनाना, लकडीसे विविध पदार्थ बनाना, कल्पनासे नवीन यंत्रादिक की रचना करना, योग्य बनाना " इस धातुसे " **तक्षक, तक्षन्** " ये शब्द बने हैं, जिनका अर्थ " बढई, लकड़ीका काम करनेवाला, लकडीसे विविध आकार बनानेवाला " ऐसा होता है। " **तक्षण** " शब्दका भाव काटना ही है, तथा बढ़ईके औजार हथियार आदिका नामही " **तक्षणी** " है। इससे पाठकोंको विदित होगा कि, " ततक्ष " शब्दका भाव " आकार घड़ना है। " गुरु आचार्य का भाव " परमेश्वर " भी है, योगदर्शन में भगवान् पतंजलि महामुनि ने कहाही है कि—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥
यो. द.

" वह ईश्वर प्राचीनोंकाभी आचार्य है क्यों कि वहां कालकी कोई मर्यादा नहीं है । " इस कथनसे आचार्यों का आचार्य और गुरुओंका गुरु परमेश्वर है । और वह पृथिवीसे लेकर द्युलोक तकके संपूर्ण पदार्थोंके आकार बनाता है । यह भाव स्पष्ट ही है ।

जो कार्य परात्पर गुरु परमेश्वर करता है, वही कार्य यहां शिष्यकी मानसिक सृष्टिमें गुरु करता है । संपूर्ण सृष्टिकी यथावत् कल्पना शिष्यके मनमें उत्पन्न करना, यह काम अध्यापकका ही है । इस दृष्टिसे कहा जा सकता है कि, गुरु शिष्यके लिये पृथ्वी और द्युलोक बनाता है । सृष्टिकी कल्पना हमारे ज्ञानमें ही है, सृष्टिविषयक जितना ज्ञान हमें होता है, उतनी ही सृष्टि हमारे लिये होती है । जिन पदार्थोंका ज्ञान हमको नहीं होता, उन पदार्थोंका अस्तित्वही हमारे लिये नहीं होता । अर्थात् ज्ञानपूर्वकही सृष्टिका अस्तित्व हमारे लिये हुआ करता है । इस हेतुसे भी कहा जा सकता है कि, आचार्य जिन जिन पदार्थोंका ज्ञान देता है, साथ साथ वे पदार्थों भी देता है । आचार्य पृथ्वीसे लेकर द्युलोकपर्यंत सबही पदार्थोंका ज्ञान देता है इस लिये उक्त लोकही शिष्यको समर्पित करता है ।

इसके अतिरिक्त शिष्यके शरीरके अंदर जो तीन लोक हैं, उनको भी यमनियमादि योगसाधनद्वारा आचार्य ठीकठाक और सुडौल बनाता है । उन तीनों लोकोंमें जो पदार्थ हैं, उनकोभी शिष्यके अनुकूल बनाता है । शिष्यके शरीरकी घटना यद्यपि मातापिताके स्थितिके अनुसार होती है, तथापि उसमें योग्य परिवर्तन आचार्यकी नियमव्यवस्था से ही होता है । सत्यज्ञान द्वारा मस्तिष्क रूपी

द्युलोककी बनावट, सद्वृत्तिद्वारा हृदयकी घटना, तथा योग्य आहार विहार द्वारा स्थूल भागोंकी सुस्थिति आचार्य ही करता है । इस विवरणसे पता लग जायगा कि तीनों लोकोंकी बनावट आचार्य शिष्यके लिये किस रीतिसे करता है । आचार्य का यही महत्व है ।

(१९) त्रिभुवन रक्षक ब्रह्मचारी ।

जो इस समय आचार्य है, वही एक समय शिष्य तथा ब्रह्मचारी था । उस समय उसके गुरुने त्रिभुवन विषयक जो जो ज्ञान उसको दिया था, उसका संरक्षण करके उसने आचार्य बननेके पश्चात् वही-ज्ञान अपने शिष्यको दिया । ज्ञान देनेसे ऋषिऋण उतर जाता है । इसीप्रकार इस शिष्य कोभी उचित है कि, वह गुरुसे प्राप्त त्रिभुवन और उसका ज्ञान अपने पास सुरक्षित रखे । इसी मंत्रमें कहा है कि "**ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी**" अर्थात् " ब्रह्मचारी अपने तपसे उनका रक्षण करता है "; आचार्य जो जो बात शिष्यके लिये घड़ता है, बनाता है, तैय्यार कर देता है अथवा ज्ञान रूपसे देता है, उसका संरक्षण शिष्य करता है । अथवा प्राप्त ज्ञानका संरक्षण शिष्यको करना चाहिये । ज्ञान रूपसे त्रिभुवनकी स्थिति गुरुशिष्योंके मनमें है, यह बात जो जान लेंगे, वे इस मंत्रका आशय ठीक समझ सकते हैं ।

मंत्रके अंतिम भागमें कहा है कि, उक्त प्रकारके " ब्रह्मचारी में उसके मनके साथ अनुकूल मन धारण करके सब देव रहते हैं । " प्रथम मंत्रके स्पष्टीकरण में इसका विचार हो चुका ही है । इस

प्रकारके सुयोग्य ब्रह्मचारीके सब इंद्रिय और अवयव उसके मनकी इच्छाके अनुकूल रहते हैं, वह संयमी हो जाता है । मन आदि आंतरिक इंद्रियोंका दमन और सब बाह्य इंद्रियोंका शमन होनेसे वह दान्त और शान्त होता है । यही संयम है । जिसको पूर्ण रीतिसे " सं--यम " सिद्ध होता है उसीका नाम " **यम** " है और उत्तम यम का नामही " सं—यम " है इससे पाठक जान सकते हैं कि, जो प्रथम साधारण ब्रह्मचारी होता है, वही आगे जाकर आचार्य बननेसे पूर्व " **यम** " अथवा " सं— यमी " बनता है, आचार्यका ही नाम " **यम** " होता है । अब अगला मंत्र देखिये—

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जं-भार प्रथमो दिवं च ॥ ते कृत्वा समिधा वुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा॥९॥

अर्थ—(प्रथमः ब्रह्मचारी) पहिले ब्रह्मचारीने (पृथिवीं भूमिं) इस विस्तृत भूमिकी तथा (दिवं) द्युलोक की (भिक्षां आ जभार) भिक्षा प्राप्त की है । अब वह ब्रह्मचारी (ते समिधौ कृत्वा) उनकी दो समिधायें करके (उपास्ते) उपासना करता है । क्यों कि (तयोः) उन दोनों के बीचमें सब भुवन (अर्पिताः) स्थापित हैं ।

भावार्थः—ब्रह्मचारीने प्रथमतः भिक्षामें द्युलोक और पृथिवी लोक को प्राप्त किया। इन दो लोकोंमें ही सब अन्य भुवन स्थापित हुवे हैं। दोनों लोकोंकी प्राप्ति होनेपर वही ब्रह्मचारी अब उक्त दोनों लोकोंकी दो समिधायें बनाकर ज्ञान यज्ञ द्वारा उपासना करता है।

(२०) ब्रह्मचारीकी भिक्षा।

ब्रह्मचारी गुरुकेपास जाता है और उससे दोनों लोकोंकी भिक्षा लेता है। भूलोक की भिक्षासे उसको सब भोगोंकी प्राप्ति होती है। और द्युलोक की भिक्षासे उसको आत्मिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार शारीरिक और आत्मिक पुष्टि वह ब्रह्मचारी प्राप्त करता है। पृथिवी और द्युलोक का संबंध शारीरिक और आत्मिक अभिवृद्धिके साथ है, यह बात पूर्व स्थल में बता दी है, तथा इन लोकोंके अंश अपने शरीरमें कहां रहते हैं, यह भी पहिले बतायाही है। आचार्यके पाससे वह ज्ञानमय भिक्षा प्राप्त करता है, और आचार्य अपने शिष्यको पृथिवीसे लेकर द्युलोक पर्यंत संपूर्ण विश्वकी भिक्षा अर्पण करता है। पृथिवी और द्युलोक के अंदर संपूर्ण विश्व आगया है। अर्थात् शारीरिक मानसिक और अत्मिक उन्नतिके संपूर्ण साधन इस भिक्षासे उस ब्रम्हचारीको प्राप्त होते हैं।

(२१) ब्रह्मचारीका आत्मयज्ञ।

जब इस प्रकार परिपूर्ण साधनोंसे संपन्न हो जाता है, तब वह ब्रह्मचारी उक्त दोनों लोकोंकी दो समिधायें बनाकर हवन करता है। इस ज्ञान यज्ञमें उस ब्रह्मचारीको अपनी सब भिक्षा अर्पण करनी होती है।

यही उसका सर्वस्व त्याग है, जो प्राप्त हुआ था, वह सबकी भलाई केलिये अर्पण करनेका नाम ही आत्म यज्ञ है। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियोंका समर्पण करके, अंतमें अपनी पूर्णाहुति देकर, इस आत्मयज्ञकी समाप्ति होती है।

जो कुछ प्राप्त किया जाता है, उसका समर्पण समष्टि की भलाईके लिये करनेका नामही यज्ञ है। समष्टिका एक अंग व्यष्टि है। समाजका एक अंग एक व्यक्ति है। इस कारण **व्यक्तिकी अंतिम सफलता, संपूर्ण समाजकी पूर्णताके लिये, अपने आपको समर्पित करना ही है। यही यज्ञ है, यही पूजा और उपासना** है। जो जिसके पास शक्ति है, उसका व्यय संपूर्ण समाजके उदय के लिये करनाही उस शक्तिका सबसे उत्तम उपयोग है। इस प्रकारका आत्मयज्ञ ब्रह्मचारी करता है।

> अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य ॥ तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत्केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ॥ १० ॥

अर्थ—(अन्यः अर्वाक्) एक पास है और (अन्यः दिवः पृष्ठात् परः) दूसरा द्युलोक के पृष्टभागसे परे है। ये दोनों (निधी)

कोश (ब्राह्मणस्य गुहा) ज्ञानीकी बुद्धिमें (निहितौ) रखे हैं। (तौ) उन दोनों कोशोंका संरक्षण ब्रह्मचारी अपने तपसे करता है। तथा वही विद्वान् ब्रह्मचारी (तत् केवलं ब्रह्म) वह केवल ब्रह्म-ज्ञान (कृणुते) विस्तृत करता है। ज्ञान फैलाता है।

(२२) दो कोश।

एक भूलोक का कोश है और दूसरा द्युलोक का कोश है। य दोनों कोश ब्राह्मणकी बुद्धिमें रहते हैं। ब्राह्मण अर्थात् गुरु अपने शिष्यको जो उक्त दोनों लोकोंकी भिक्षा देता है, वह अपनी बुद्धिमें से ही देता है। विद्वान् की बुद्धिमें पृथिवी अंतरिक्ष और द्युलोक तथा सब अन्य विश्व रहता है और वह ज्ञानी अपने शिष्यको उप-देश द्वारा उनका प्रदान करता है। इस मंत्रसे यह बात स्पष्ट होगइ है कि पृथिवी और द्युलोक वास्तवमें ज्ञानीकी बुद्धिमें हैं, बुद्धिमेंही संपूर्ण जगत् का निवास है। ज्ञानी अपनी इच्छानुसार दूसरोंको उक्त विश्वका दान करता है।

(२३) कोश रक्षक ब्रह्मचारी।

आचार्यके पाससे उक्त दोनों कोश शिष्यकी बुद्धिमें आते हैं, अर्थात् पृथिवीसे लेकर स्वर्गपर्यंत का संपूर्ण ज्ञान उसको प्राप्त होता है। अब विचार करना है कि, इन दोनों खजानोंका किस रीतिसे संरक्षण होता है। मंत्रमें ही कहा है कि, " तपसे " संरक्षण किया जाता है। जो ब्रम्हचारी तप करता है, शीतउष्ण आदि द्वंद्व सहन करनेकी शक्ति बढ़ाता है, वही उक्त कोशोंका संरक्षण कर सकता

है। तपके बिना, कष्ट सहन करनेके बिना, उनका रक्षण नहीं हो सकता, यह बात इस मंत्रमें स्पष्टतासे कही है।

ज्ञानकी प्राप्ति, ज्ञानका संरक्षण और ज्ञानका प्रचार यही क्रम है। "**प्राप्ति, रक्षण और दान" यही यज्ञ है**। सब यज्ञोंका यही क्रम है। धन प्राप्त करना, धनका रक्षण करना और धनका दान करना यह द्रव्ययज्ञ है। ब्रह्मचारी गुरुसे ज्ञानकी प्राप्ति करता है, ज्ञान प्राप्त होनेपर वह उसका संरक्षण करता है, तत्पश्चात् केवल शुद्ध ज्ञानका प्रचार फैलाव और विस्तार करता है। यही ब्रह्मचारीका ज्ञानयज्ञ है।

पूर्व मंत्रमें दोनों लोकोंकी भिक्षा ब्रह्मचारीने प्राप्त की, ऐसा कहा है। इस मंत्रमें दो कोश ब्राह्मणकी बुद्धिमें रखे हैं, उनका संरक्षण ब्रह्मचारी करता है, यह बात कही है। दोनों बातें विचार पूर्वक देखनेसे पता लग जायगा, कि दोनोंका मुख्य आशय प्रायः एकही है। एकही बात भिन्न अलंकारसे कही है। वही बात और ढंगसे देखिये—

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे ॥ तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥ ११ ॥

अर्थ—(अर्वाक् अन्यः) इधर एक है और (इतः पृथिव्याः अन्यः) इस पृथिवीसे दूर दूसरा है। ये (अग्नी) दोनों अग्नि (इमे अंतरा नभसी) इन पृथिवी और द्युलोकके बीचमें (समेतः) मिलते हैं। (तयोः दृढा रश्मयः) उनके बलवान् किरण (अधि श्रयंते) फैलते हैं। ब्रह्मचारी तपसे (तान् आतिष्ठति) उन किरणोंका अधिष्ठाता होता है।

(२४) दो अग्नि।

पृथिवीपर एक अग्नि है और द्युलोकमें दूसरा अग्नि सूर्यरूपमें है। ये दोनों प्रकाश किरणोंके द्वारा बीचमें अर्थात् अंतरिक्षमें मिल जाते हैं। इनके किरण सर्वत्र फैलते हैं, और ब्रह्मचारी उनका अधिकारी होता है। पूर्व दोनों मंत्रके साथ इस मंत्रके कथनकी तुलना करनेसे विदित होगा कि (१) दोनों लोकोंकी भिक्षा, (२) बुद्धिमें रहने वाले दोनों कोश, (३) तथा दो लोकोंके दो अग्नि, ये सब एकही मुख्य बात बता रहे हैं।

शरीरमें भूस्थानीय जाठर अग्नि और द्युस्थानीय मस्तिष्क निवासी सूर्य अग्नि है। जठर अग्नि और मस्तिष्कका चैतन्य अग्नि इनका-मिलाप बीचमें हृदयके स्थानमें होता है। वहांसेही सब स्थानोंमें किरणें फैलती हैं। इसप्रकार ये दोनों अग्नि हैं।

एक भोग का विचार है और दूसरा ज्ञानका विचार है। इन दोनोंका मिलाप हृदयकी भक्तिमें होता है। जब हृदयकी भक्तिमें इनका मिलाप होता है, तब उन दोनोंका प्रकाश विस्तृत होने लगता है। यह इन दोनों अग्नियोंका भाव है। जठर के भोग अथवा मस्तक का ज्ञान सम प्रमाणमें रहना चाहिये। यदि भोगकी वृत्ति बढेगी तो पशुभाव बढनेके कारण मनुष्यका जीवन पशुसदृशही हो जायगा, यही

राक्षसी अधम वृत्ती है। यदि केवल मस्तिष्कका ज्ञानही बढ़ेगा तो शरीर क्षीण होगा, और शरीर क्षीण होनेके कारण उसका ज्ञान भी निकम्मा हो सकता है । इस लिये दोनोंकी सम उन्नति होकर उनका हृदय की भक्तिमें मिलाप होना चाहिये। " **शरीर की शक्ति बढ़े और मस्तकका ज्ञान भी बढ़े, परन्तु दोनोंका मिलाप हृदयमें हो** " यह उपदेश अत्यन्त उत्तम है, इसलिये इसका विशेष विचार पाठक करें। जब उक्त दोनों शक्तियोंका मिलाप हृदयमें होजाता है, तब ही उनका प्रकाश फैलता है अन्यथा नहीं।

इस प्रकारके प्रकाशका अधिष्ठाता ब्रह्मचारीही होता है। क्यों कि ब्रह्मचारीके अन्दर उक्त दोनों अग्नियोंका उक्त प्रकार मिलाप होता है। ब्रह्मचारीके तपके जीवन के कारण वह सदाही उक्त प्रकाशका अधिष्ठाता रहता है। अर्थात् तप न करनेवालोंके अन्दर उक्त प्रकारकी समता नहीं रहती, और विषमता बढ़नेके कारण उनका अधःपात होता है। इसलिये तपका जीवन व्यतीत करना उचित है।

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिंगो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार ॥ ब्रह्मचारी सिंचति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥ १२ ॥

अर्थ—(अभिक्रंदन् स्तनयन्) गर्जना करनेवाला (अरुणः शितिंगः) भूरे और काले रंगसे युक्त (बृहत् शेपः) बड़ा प्रभावशाली (ब्रह्मचारी) ब्रह्म अर्थात् उदकको साथ लेजानेवाला मेघ (भूमौ अनु जभार) भूमिका योग्य पोषण करता है । तथा (सानौ पृथिव्यां) पहाड़ और भूमिपर (रेतः सिंचति) जलकी वृष्टि करता है (तेन) उससे (चतस्रः प्रदिशः जीवंति) चारों दिशायें जीवित रहतीं हैं ।

(२५) ऊर्ध्वरेता मेघ और ब्रह्मचारी ।

वृष्टि करनेवाले मेघ बड़ी गर्जना करते हुये वृष्टि करते हैं, और सबको जीवन देते हैं । दूसरे कई मेघ होते हैं वे जलहीन होते हैं, परंतु बड़ी गर्जना करते हैं; इनकी गर्जनासे जनताको केवल कष्टही होते हैं । इसका कारण पहिले प्रकारके मेघ (ऊर्ध्व-रेताः) जलसे भरपूर होते हैं और दूसरे प्रकारके मेघ (निर्वीर्य) जल हीन होते हैं ।

इसीप्रकार उर्ध्वरेता तेजस्वी ब्रह्मचारी मेघनादके समान अपने बड़े विशाल आवाजसे व्याख्यान देकर अपने ज्ञानामृतकी वृष्टि करता है और जनतामें " **नवजीवन** " फैलाता है । परंतु दूसरे कई निर्वीर्य उपदेशक ऐसे होते हैं कि, जो व्याख्यानोंका घटाटोप करते हैं, परंतु उनके खोखले व्याख्यानोंसे किसीकाभी लाभ नहीं होता । इसका कारण पहिलेमें वीर्य के साथ तप होता है और दूसरेमें दोनों नहीं होते ।

अग्नौ सूर्ये चंद्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचा-
र्य१प्सु समिधमादधाति ॥ तासामर्चींषि
पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्ष-
मापः ॥ १३ ॥

अर्थ—अग्नि, सूर्य, चंद्रमा, वायु, (अप्सु) जल इनमें ब्रह्मचारी समिधा डालता है। उनके तेज पृथक् पृथक् (अभ्रे) मेघोंमें संचार करते हैं। (तासां) उनसे (वर्ष) वृष्टि, (आपः) जल और (आज्यं) घी और पुरुषकी उत्पत्ति होती है।

(२६) बडे ब्रह्मचारीका कार्य ।

सबसे बड़ा ब्रह्मचारी परमात्मा है। वह अग्नि सूर्य चंद्र वायु जल आदि देवताओंमें विशेष विशेष प्रकारकी समिधायें डाल देता है। उस समिधासे उक्त देव अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। अग्नि सूर्य आदि देव परमात्माके तेजसे प्रकाशते हैं, वायु परमात्माके बलसे बहता है, जल उसीकी शांतिसे दूसरोंको शांति दे रहा है। अर्थात् परमात्मा अपनी शक्ति रूप समिधा इनमें रखता है, उस कारण अग्न्यादि देव अपना अपना कार्य करते हैं। प्रत्येक देवतासे भिन्न-भिन्न तेज उत्पन्न होता है, और वह तेज अंतरिक्षमें इकट्ठा होता है। इससे वृष्टि और जल होता है, जलसे वृक्षवनस्पतियां, उससे अन्न, अन्नसे वीर्य और वीर्यसे पुरुष किंवा मनुष्य आदि प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। यह बडे ब्रह्मचारीका जगत्में कार्य होता है।

(२७) छोटे ब्रह्मचारीका कार्य।

अब छोटे ब्रह्मचारीका कार्य देखिये। छोटा ब्रह्मचारी वह है, जो कि गुरुके घरमें जाता है, और यमनियमादिकों का पालन करके विद्याध्ययन करता है। परमात्मामें जो (१) अग्नि, (२) सूर्य, (३) चंद्र, (४) वायु, (५) जल आदि देवता: हैं उनके अंश इस छोटे ब्रह्मचारीमें क्रमशः (१) वाक्, (२) नेत्र, (३) मन, (४) प्राण, (५) वीर्य आदि हैं। यह छोटा ब्रह्मचारी अपनी समिधा इनमें डालता है, और इनको प्रज्वलित करता है। वक्तृत्व शक्ति, दृष्टि, विचार शक्ति, जीवनकी कला, और वीर्य तथा अन्यान्य शक्तियोंका विकास करना इस छोटे ब्रह्मचारीका कार्य है। अपनी स्वकीय आत्मिक शक्तिकी समिधा वह अपने उक्त अग्नियोंमें डालता है, और उनको प्रज्वलित अर्थात् अधिक तेजस्वी करता है। जब उक्त शक्तियां बढ जाती हैं, तब उनकी ज्वालायें अंतरिक्षमें अर्थात् अंतःकरणमें किंवा हृदयमें मिल जाती हैं। वाणी, नेत्र, कर्ण, मन, प्राण आदिका संबंध अंतःकरणमें होजाता है। उससे एक प्रकारका विलक्षण तेज उत्पन्न होता है, जिससे पुरुषकी प्रसिद्धि होती है, उससे ज्ञानकी वृष्टि होनेसे सर्वत्र शांति फैलती है।

छोटे और बडे ब्रह्मचारीके ये कार्य देखने योग्य हैं। इन कार्योंको देखनेसे दोनोंके कार्य क्षेत्रोंकी समानता व्यक्त होती है। यही समानता देखने योग्य है। आत्मा परमात्मा का कार्यक्षेत्र और गुण-साधर्म्य इस प्रकार देखने योग्य है।

आचा॒र्यो॑ मृ॒त्युर्वरु॑णः॒ सोम॒ ओष॑धयः॒ पयः॑ ॥ जी॒मूता॑ आस॒न्त्सत्वा॑न॒स्तैरि॒दं स्वः॒ राभृ॑तम् ॥ १४ ॥

अर्थ—आचार्यही मृत्यु, वरुण, सोम, औषधि तथा पयरूप है। उसके जो (सत्वानः) सात्विक भाव हैं, वे (जीमूताः) मेघ रूप हैं, क्यों कि (तैः) उनके द्वारा ही (इदं स्वः आभृतं) यह स्वत्व रहा है।

(२८) आचार्य का स्वरूप।

आचार्य ही मृत्यु है। क्यों कि उसकी कृपासे दूसरा जन्म प्राप्त होता है, और शिष्य " द्वि–ज " बनता है। पहिला जन्म माता-पितासे मिलता है। पहिले जन्मसे प्राप्त शरीर का मृत्यु अथवा मरण उपनयन संस्कार के समय होता है, तत्पश्चात् उस ब्रह्मचारीका आत्मा विद्यादेवीके गर्भमें रहता है; विद्या और आचार्य के गर्भमें नियत समय अर्थात् १२, २४, ३६, ४८ वर्षतक रहकर उस गर्भसे बाहिर आता है। यह उसका दूसरा जन्म है। परमात्माका नाम मृत्यु है, इसलिये कि वह पाहिले जीर्ण शरीरको छुड़वाकर दूसरा कार्यक्षम नवीन शरीर देता है। आचार्य भी वही कार्य संस्कार रूपमे करता है। इस लिये आचार्य भी मृत्यु ही है।

आचार्य वरुण है। वरुण निवारक को कहते हैं। पापसे निवारण करता है और पुण्य मार्ग में प्रवृत्त करता है, इसलिये आचार्य ही वरुण है। वरुण शब्द वरत्व अर्थात् श्रेष्ठत्व दर्शक भी है। आचार्य की श्रेष्ठता सुप्रसिद्ध ही है। आचार्यका अर्थ ही यह है कि (आचारं ग्राहयति) जो सदाचारकी शिक्षा देता है।

आचार्य सोम अर्थात् चंद्र है। चंद्रके समान शांति और आल्हाद देनेका कार्य आचार्य करता है। आचार्यसे जो विद्या प्राप्त होती है, वह शिष्यके अंतःकरणमें शांति और आनंद स्थिर करनेके लिये कारणीभूत होती है। " सोम " शब्दका दूसरा अर्थ (स+उमा) ज्ञानी ऐसाभी है। " उमा " शब्द संरक्षक विद्या अथवा ज्ञान किंवा मूलशक्तिका वाचक केन उपनिषद् (३।१२) में आगया है, वहां उमा शब्दका " ब्रह्मविद्या अथवा मूलशक्ति " ऐसा अर्थ होता है। (अवति इति उमा) जो रक्षक विद्या किंवा शक्ति होती है, उसका नाम " उमा " है; उस प्रकारकी संरक्षक विद्या जिसके पास होती है (उमया सहितः सोमः) उसको ज्ञानी अथवा समर्थ कहते हैं। अपना और दूसरोंका संरक्षण करनेकी विद्या जिसके पास होती है उसकी " सोम " पदवी होती है। इस शब्दार्थसे पता लगेगा कि, केवल पुस्तक पढनेका नाम विद्याध्ययन नहीं है, परंतु **जिससे अपना और जनताका संरक्षण करनेकी शक्ति बढ सकती है, उसीका नाम (उमा) विद्या है।** सब कालमें सब लोगोंके लिये यह शब्द मार्ग दर्शक हो सकता है। यही वेदकी

१ दुरितस्य निवारकः। वरुणः। पापान्निवारयिता वा॥ सायणभाष्य अथर्व.॥

गंभीरता है। सोमशब्दका तीसरा अर्थ " प्रसंव तथा ऐश्वर्य " का कर्ता है। " ऐश्वर्य " शब्दका तात्पर्य " प्रभुत्व " है तथा " प्र-सव" शब्दका भाव " आगे बढ़ना " है। आचार्य अपने शिष्यमें (१) प्रभुत्व का भाव तथा (२) आगे बढ़नेका उत्साह उत्पन्न करता है; इस कारण आचार्य का नाम सोम है।

आचार्य औषधि है। औषधि शब्द " दोष धी " शब्दसे निरुक्तकार (निरु. दै. ३।३।२८) बनाते हैं। दोषोंको दूर करनेका और स्वास्थ्य प्राप्त करनेका काम ओषधिका है। वही कार्य आचार्य करता है। शिष्यके दोष दूर करके उसके अंदर (स्व-स्थ-ता) स्वावलंबन अर्थात् अपनी शक्तिसे खड़ा रहनेका बल आचार्य देता है, इस कारण आचार्य ही ओषधि है।

आचार्य दूध है। " पयः " शब्दका अर्थ " दूध, जल, वीर्य, अन्न, बल, उत्साह " इतना है। इन सब अर्थोंका भाव " पुष्टिका साधन" इतना ही है। आचार्य ही आत्मिक बल और उत्साह बढ़ाता है, इसलिये शिष्यके मन की पुष्टि आचार्य करता है। आचार्य का दूध विद्यामृतही है, वही शिष्य पीते हैं। इस अर्थके साथ पूर्वोक्त सोम का भाव भी देखने योग्य है। " **सोम-रस-पान** " का वर्णन सैकडों जगह वेदमें है। यहां सोम आचार्य ही है अर्थात् उसका रस निःसंदेह " **विद्या-रस** " है। इसका पान शिष्य करते हैं। सोमरसपान का यहां यह भाव है। " सोम, ओषधि, पय " इन

१ " षु-प्रसवैश्वर्ययोः " इस धातुसे यह शब्द बनाता है।

शब्दोंके भाव और आचार्यसे ब्रह्मरस का पान करनेकी कल्पना अत्यंत श्रेष्ठ है। पाठक इनका विशेष विचार करें।

सात्विक भाव ही जीमूत हैं। जीमूत मेघोंका नाम है क्यों कि जीवन का उदक उनसे प्राप्त होता है। सात्विक भाव ही जीवनका जल है। इन सात्विक भावोंसे ही संपूर्ण आत्मिक आनंदका धारण पोषण होता है। सत्वभाव का महत्व प्रसिद्ध ही है।

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ ॥ तद्ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रो अध्यात्मनः॥१५॥

अर्थः—(अमा) एकत्व, सहवास (केवलं घृतं) केवल शुद्ध तेज करता है। आचार्य वरुण बनकर (प्रजा–पतौ) प्रजापालक के विषयमें (यत् यत् ऐच्छत्) जो जो चाहता है (तत्) उसको मित्र ब्रह्मचारी (स्वात् आत्मनः) अपनी आत्मशक्तिसे (अधि प्रायच्छत्) देता है।

भावार्थ—गुरुशिष्यके सहवाससेही दिव्य तेज अथवा तेजस्वी ज्ञानका प्रवाह प्रचलित होता है। आचार्य वरुण बनकर जो इच्छा करता है, उसकी पूर्ति शिष्य अपनी शक्तिके अनुसार करता है।

(२९) सहवासका प्रभाव ।

गुरु शिष्यके सहवासका महत्व अत्यंत है । जो भला विशेषतः शिष्यको होता है, वह गुरुसहवाससेही होता है । मंत्रमें " अमा " शब्द सहवास, अर्थात् साथ रहनेका भाव बता रहा है । सूर्य चंद्रके सहवासके अहोरात्रका नाम " अमा अथवा अमा-वास्या " है । यहां सूर्य स्वयं प्रकाशी होनेसे गुरु किंवा आचार्य है, और चंद्र पर प्रकाशी किंवा सूर्यके तेजसेही प्रकाशनेवाला होनेसे उसका शिष्य है । यह जो सूर्य चंद्रका सहवास " अमा-वास्या " के दिन होता है वही सहवास गुरु शिष्यके विषयमें यहां " अमा " शब्दसे बताया गया है । आचार्य रूपी सूर्य के विद्यातेजसे शिष्यरूपी चंद्रमा प्रकाशित होता है, और ये सूर्य चंद्र विद्याध्ययन की समाप्तितक एकत्रही रहते हैं । इतनाही नहीं परंतु यहां का " अमा " शब्द सूचित कर रहा है कि, गुरुशिष्यका सहवास विद्याध्ययन की समाप्तितक अवश्यही होना चाहिये । नियत समयपर पढानेके लिये गुरुका आना, और पढाईके पश्चात् चलेजाना अध्यापन का यह ढंग ठीक नहीं है । गुरुके निरंतरके सहवाससेही शिष्यको अत्यंत लाभ पहुंचता है । इसी उद्देशसे गुरुकुलवास की प्रणाली वेदने बताई है । गुरुके घरमें उसके पुत्रके समान शिष्य रहता है, इस समयमें वह गुरुके सब गुण देखता है, और उनका अनुकरण करता है । गुरुशिष्य के नित्य सहवास से अत्यंत लाभ हैं, और इस समय उन लाभोंको सबही मानने लगे हैं ।

इस मंत्रमें " घृत " शब्द है । " घृ–क्षरण–दीप्त्योः " इस धातुसे वह शब्द बनता है । (१) प्रवाह चलना और (२) तेज फैलना, ये दो अर्थ " घृ " धातुके हैं । घृत शब्दमें भी ये दोनों भाव हैं । गुरुशिष्यका सहवास घृत करता है, यह मंत्रका कथन है, अर्थात् गुरुशिष्य के सहवास से विद्याका प्रवाह चलता है और ज्ञान-तेज फैलता है । इस समयतक ज्ञानका प्रवाह गुरुशिष्य संबंधसे ही हमारे पास पहुंचा है । और यही ज्ञान मनुष्योंका तेज बढा रहा है, इसमें विवाद नहीं हो सकता ।

(३०) गुरुदक्षिणा ।

आचार्य वरुण होकर जो चाहता है वह शिष्य अपनी निजशक्तिसे अर्पण करता है । इसका तात्पर्य " गुरु–दक्षिणा " से है । संपूर्ण विद्या पढानेके पश्चात् आचार्य गुरुदक्षिणा मांगता है, और शिष्य अपनी शक्तिसे गुरुदक्षिणा देता है । इस विषयमें न आचार्य के मनमें कोई बुरा भाव रहता है, और न शिष्यमें कोई खेद रहता है। शिष्य अपना कर्तव्य समझकर गुरु दक्षिणा देता है ।

अब यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि, गुरु अपने शिष्य से किस प्रकारकी गुरुदक्षिणा माँगता है । गुरुदक्षिणाका स्वरूप बतानेवाला शब्द इसमंत्रमें " **प्रजा–पतौ** " है । यह गुरुदक्षिणा " प्रजाके पालन करनेके विषयमें " होती है । प्रजाके पालन के विषयमें अथवा जनताके हितके संबंध में ही दक्षिणा होती है । अर्थात् गुरु अपने स्वार्थ का साधन करनेके लिये दक्षिणा नहीं मांगता, अथवा आचार्य

ऐसी दक्षिणा मागता है कि जिससे सब जनताके पालन संबंधी कुछ भाग बन सके। यह आचार्यका सार्वजनिक हित करनेका निःस्वार्थी भाव देखने योग्य है। इस प्रकार आचार्य स्वयं शिष्यको बता रहा है कि संपूर्ण प्रजाजनोंके पालन के विषयमें उचित कर्तव्य करनेमें अपने आपको समर्पित करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है, और राष्ट्रीय शिक्षाका यही आदर्श है। गुरुके समान शिष्य भी प्रजापालनात्मक कर्तव्यका अपना हिस्सा करके अपने आपको उत्तम नागरिक सिद्ध करे। स्वराज्यमें संपूर्ण नागरिक जन प्रजापालनात्मक कार्य करनेवाली "प्रजा–पति–संस्था" के अंशभूत ही होते हैं, इसलिये प्रत्येक अंशभूत नागरिक को संपूर्ण अंशी राष्ट्र के अभ्युदयके लिये अपने कर्तव्यपालनकी पराकाष्ठा करना अत्यंत आवश्यक ही है।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिंद्रो भवद्वशी
॥ १६ ॥

अर्थ—आचार्य ब्रह्मचारी होना चाहिये, (प्रजापति) प्रजापालक भी ब्रह्मचारी होना चाहिये। इस प्रकारका प्रजापति (वि-राजति) विशेष शोभता है। जो (वशी) संयमी (वि–राट्) राजा होता है वही इंद्र कहलाता है।

भावार्थ—सब शिक्षक ब्रह्मचारी होने चाहियें, सब राज्याधिकारी-प्रजापालनके कार्यमें नियुक्त पुरुष-भी ब्रह्मचारी ही होने चाहियें। जो योग्य रीतिसे प्रजाका पालन करेंगे वेही सुशोभित होंगे तथा जो जितेंद्रिय राजपुरुष होंगे वेही इंद्र कहलायेंगे।

(३१) ब्रह्मक्षत्रियोंका ब्रह्मचर्य।

" जिस देशमें ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलजुल कर रहते हैं वही पुण्य देश है।" (यजु. २०।२५) ये दोनों ब्रह्मचारी और संयमी होने चाहियें, तभी राष्ट्रकी ठीक प्रकार प्रगति होती है।

" **आचार्यः ब्रह्मचारी** " अर्थात् राष्ट्रमें जो अध्यापक होते हैं, वे सब ब्रह्मचारी होने चाहिये।" ब्रह्मचारीका अर्थ यहां शादी विवाह न किये हुए सज्जन, ऐसा समझना नहीं चाहिये। विवाह करनेके पश्चात् भी ऋतुगामी होनेसे तथा अन्य नियमोंका परिपालन करनेसे ब्रह्मचारी रहना संभव है। छोटे मोटे सब ही अध्यापक तथा अन्य सज्जन जो कि नागरिक कार्य करनेमें लगे होते हैं, वे सब ब्रह्मचारी होने चाहिये। कामी, भोगी लोभी तथा स्वार्थी नहीं होने चाहिये। जब ब्रह्मचर्यका महत्व सब अध्यापकों को ज्ञात होगा, तबभी वे अपने शिष्योंको उसकी दीक्षा दे सकते हैं। और इस प्रकार जो बात अध्यापकों द्वारा राष्ट्रके युवकोंके मनमें स्थिर की जाती है, वह राष्ट्रमें दृढ मूल हो जाती है।

(३२) आदर्श राज्य शासन।

अब क्षत्रिय भी ब्रह्मचारी होने चाहियें। राजा, महाराजा, सम्राट्, प्रधान मंत्री, सेनानायक, सैनिक, ग्रामाधिकारी तथा सब

अन्य ओहदेदार स्वयं ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले ही होने चाहियें। यहां ब्रह्मचारी होनेका तात्पर्य केवल बाल्य अवस्थामें ब्रह्मचर्य पालन करनेसे नहीं है, परंतु आगे गृहस्थी बननेके पश्चात् भी ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करनेवाले सब राज्याधिकारी होने चाहियें। जहां ऐसे अधिकारी ब्रह्मचारी न होंगे वहांका प्रबंध ठीक धर्मानुसार नहीं हो सकता। प्रजा पालन का कार्य जो जो अधिकारी करता है, उसे उचित है कि वह ब्रह्मचर्यके पालनके साथ संयमी बनकर अपना कार्य करे। राज्यके प्रधान अधिकारियोंको भी यहां सूचना मिलती है कि, ओहदेदार नियत करनेके समय वे उनकी अन्य योग्यता देखनेके साथ यहभी बात अवश्य देखें कि, वे ब्रह्मचारी और धार्मिक हैं वा नहीं।

जिस राज्यमें ज्ञान प्रचार करनेवाले विद्याधिकारी और संरक्षण का कार्य करनेवाले क्षात्राधिकारी उत्तम ब्रह्मचारी होंगे वहां की राज्यव्यवस्थाका वर्णन क्या कहना है? यही **"आदर्श राज्य व्यवस्था"** वेदकी दृष्टिसे है। इस समय जो राज्य इस भूमंडलपर चलाये जा रहे हैं, वे भोगी लोग चला रहे हैं। भोगी लोग ही आसुरी संपत्तिवाले हुआ करते हैं। भोगी असुरोंसे प्रजाको कष्टही कष्ट पहुंचते हैं। इसलिये मंत्र ७ में कहा है कि, **"ब्रह्मचारीने इंद्र बनकर असुरोंको दूर किया।"** भोगी असुरोंको दूर करके त्यागी संयमी जितेंद्रिय ब्रह्मचारियोंको ही अधिकारपर लाना ब्रह्मचारीकी राजकीय हलचलका कार्य होता है।

इस प्रकारके प्रजाहित तत्पर जितेंद्रिय संयमी अधिकारी जहां होंगे, वहां वे विशेष शोभा देंगे, उस राज्यका सौभाग्य बढायेंगे, उस राज्यको चिरस्थाई बनायेंगे' इसमें कोई संदेह ही नहीं है। जो संयमी और वशीराजा अथवा राजपुरुष होता है, वही इंद्र होता है। सब प्रकारके आंतरिक और बाह्य शत्रुओंको हटाकर वहां मित्रभाव धारण करनेवालोंकी स्थापना करना, और इस प्रकार स्वयं तथा सब जनताको परम ऐश्वर्यसे युक्त करना इंद्रका स्वभाव है। जो वशी और संयमी राजा होगा, वही सच्चा इंद्र हो सकता है। उच्छृंखल मनोवृत्तिवाला कभी इंद्र नहीं हो सकता।

इस मंत्रसे सिद्ध होता है कि ब्रह्मचर्य केवल प्रथम आयुमें ही पालन करनेका नहीं, प्रत्युत आयुभर ही पालन करने योग्य है।— जो ब्रह्मचारी रहेगा, वही उससे लाभ उठावेगा। ब्रह्मचर्यका प्रभाव अगले मंत्रमें और देखिये—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ॥ आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७ ॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य रूप तपके साधनसे राजा राष्ट्रका विशेष संरक्षण

करता है । आचार्य भी ब्रह्मचर्यके साथ रहनेवाले ब्रह्मचारीकीही इच्छा करता है ।

भावार्थ—राजा राजप्रबंध द्वारा सब लोगोंमें ब्रह्मचर्य पालन कराके राष्ट्रका विशेष रक्षण करता है । अध्यापक भी ऐसे ब्रह्मचारी की इच्छा करता है कि जो ब्रह्मचर्यका पालन करता है ।

(३३) ब्रह्मचर्यसे राष्ट्रका संरक्षण ।

राजा, राजपुरुष, आदि क्षत्रिय, तथा आचार्य और अध्यापक आदि ब्राह्मण स्वयं ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले होने चाहिये, इस विषयका उपदेश मंत्र १६ में दिया है । अब इस १७ वें मंत्रमें कहा है कि, राजप्रबंधसे तथा पाठशाला गुरुकुल आदिके प्रबंधसे राष्ट्रके ब्रह्मचर्य का पालन होवे ।

राजा अपने राज्यमें ऐसा शासनका प्रबंध रखे कि सब अधिकारी ब्रह्मचर्य पालन करने वाले हों और वे अपने अपने अधिकारक्षेत्रमें रहनेवाली जनतासे ब्रह्मचर्य का पालन करावें । इस प्रकार प्रत्येक अधिकारी व्यवस्था करेगा तो संपूर्ण राज्य ब्रह्मचर्य पालन करनेवाला बन सकता है। ब्रह्मचर्यका तात्पर्य यहां संयमसे है ।राज्यमें बालविवाह न हो, विवाह योग्य समयमें हो, विवाह होनेपर इंद्रिय विषयक अत्याचार और व्यभिचार न हो, संयम और त्यागवृत्तिसे व्यवहार किया जावे । इस प्रकार मरनेतक ब्रह्मचर्य पालन हो सकता है । इस प्रकारका ब्रह्मचर्य राज्यशासनके द्वारा सब लोगोंसे पालन कराके राजा राष्ट्रका विशेष रीतिसे संरक्षण कर सकता है ।

सर्व साधारण जनता अज्ञानी होनेके कारण सुनियमोंका पालन स्वयं नहीं करती। परंतु जब राज्यशासनके प्रबंधसेही सुनियमोंका पालन होता है, तब वे लोगभी उन नियमोंके पालन करनेका लाभ प्राप्त कर सकते हैं। समाजकी उन्नति अवनति की अवस्था के अनुसार नियमोंमें परिवर्तन हो सकता है। परंतु यहां ब्रह्मचर्य, वीर्यरक्षण, बलसंवर्धन, योगाभ्यास, ज्ञानसंपादन, उपासना, आदि का संबंध है। राजप्रबंधसे ही सब लोग इनको करें और राजा सबसे इनका पालन करा के जनताका संरक्षण करे। यह इस मंत्रका तात्पर्य है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियोंमें इस विषयके कई नियम हैं। समय और अवस्थाके अनुकूल नियमोंमें परिवर्तन भी हो सकता है, परंतु मूल उद्देश का ही विचार यहां करना है। वेदकी आज्ञा के अनुसार राजाका कर्तव्य है, कि वह प्रजाओंके द्वारा ब्रह्मचर्यका पालन कराके उनका विशेष रक्षण करे।

आचार्य, गुरु, अध्यापक आदिभी अपने विद्याक्षेत्रमें रहते हुए अपने शिष्योंको ब्रह्मचर्यका महत्व उत्तम प्रकारसे समझा देवें और उनसे ब्रह्मचर्यका पालन अच्छी प्रकार करा लेवें। इसप्रकार होनेसे संपूर्ण राष्ट्रकी अवस्था अत्यंत श्रेष्ठ हो सकती है।

ब्रह्मचर्येण कन्या ३ युवानं विंदते पतिम् ॥ अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥ १८ ॥

अर्थ— कन्या ब्रह्मचर्य पालन करनेके पश्चात् तरुण पतिको (विंदते) प्राप्त करती है। (अनड्वान्) बैल और (अश्वः) घोड़ा भी ब्रह्मचर्य पालन करनेसेही घास खाता है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य पालन करनेके पश्चात् कन्या अपने योग्य पतिको प्राप्त करती है। बैल और घोड़ा भी ब्रह्मचारी रहते हैं, इसलिये घास खाकर उसे पचा सकते हैं।

(३४) कन्याओंका ब्रह्मचर्य।

पूर्व मंत्रमें सूचित होगया है कि राजप्रबंध द्वारा सब जनतासेही ब्रह्मचर्यका पालन कराके प्रजाका विशेष पालन करना है। सब जनतामें जैसे पुत्रोंका वैसाही कन्याओंका भी ब्रह्मचर्य पालन होना चाहिये। पुत्रोंके ब्रह्मचर्यके विषयमें किसीको शंका नहीं हो सकती, क्यों कि ब्रह्मचारी शब्द पुल्लिंगमें होनेसे पुरुषोंके ब्रह्मचर्यकी आज्ञा वेदसे सिद्ध होगई है। इस मंत्रमें " कन्या " शब्दसे स्त्री जातिके ब्रह्मचर्यकी सूचना होगई है। अर्थात् बालक और बालिकाओंके लिये समानही ब्रह्मचर्य है। और पूर्व मंत्रके अनुसार दोनोंके ब्रह्मचर्यका पालन राजप्रबंध द्वाराही होना चाहिये।

(३५) पशुओंका ब्रह्मचर्य।

घोड़े बैल आदि पशु सचमुच ब्रह्मचारीही रहते हैं। अति काम भाव उनमें नहीं होता। कामुक मनुष्योंके समान पशुओंमें स्त्रैणता नहीं होती। मनुष्योंकी अपेक्षा पशुओंमें स्त्रीसंबंध न्यूनही होता है, इसलिये वे आयुभर ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। उनको देखकर मनुष्योंको बहुत बोध लेना उचित है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ॥
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व १ राभ-
रत् ॥ १९ ॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य रूप तपसे सब देवोंने मृत्युको (अप अघ्नत) दूर किया । इंद्र ब्रह्मचर्यसे ही देवोंको (स्वः) तेज (आभरत्) देता है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्यसे पालन करनेके कारण ही सब देव अमर बने हैं । तथा ब्रह्मचर्यके सामर्थ्यसे ही देवराज इंद्र सब इतर देवोंको तेज दे सकता है ।

(३६) अपमृत्यु को हटानेका उपाय ।

अपमृत्यु दूर करनेका उपाय ब्रह्मचर्य ही है । ब्रह्मचर्य आयुष्य वृद्धि करनेवाला और रोग दूर करनेवाला है । जो ब्रह्मचर्यका पालन करता है, वह मृत्युको दूर कर सकता है । इसी रीतिसे देव अमर बने हैं । जो देवोंको साध्य हुआ वह तपस्यासे मनुष्य भी साध्य कर सकते हैं । देवोंका राजाधिराज इंद्र भी सबसे अधिक तेजस्वी है, क्यों कि उसने सबसे अधिक ब्रह्मचर्यका पालन किया था । जो इसप्रकार ब्रह्मचर्यका अधिक पालन करेगा वह सबसे अधिक तेजस्वी हो सकता है । ब्रह्मचर्यका तेज उसके मुखपर ही दिखाई देता है । ब्रह्मचारी जितेंद्रिय पुरुषका मुख कमल के समान तेजस्वी, उत्साही

और स्फूर्तियुक्त होता है। इसलिये हरएकको ब्रह्मचर्यका पालन अवश्यमेव करना चाहिये।

"देव" शब्दका अर्थ विद्वान् भी है। विद्वान् ज्ञानी पुरुष ब्रह्मचर्यके पालन करनेसे अपमृत्युको दूर करके तथा दीर्घ जीवन प्राप्त करके अत्यंत तेजस्वी बन सकते हैं। योगसाधन करनेसे यह साध्य हो सकता है। योगसाधनमें ऐसे प्रयोग हैं, कि जिनको करनेसे उत्तम प्रकारसे वीर्य रक्षा हो जाती है। उनमेंसे कुछ थोडे अनुभव के प्रयोग इस पुस्तकमें दिये हैं। पाठक उनका अभ्यास करके स्वयं ऊर्ध्वरेता बन सकते हैं और अपने संतानों को भी पूर्ण ब्रह्मचारी बना सकते हैं। प्राचीन कालके भीष्मपितामह आदि राज पुरुष तथा वसिष्ठादि ऋषि अत्यंत दीर्घ आयुष्य से संपन्न थे, बल-शक्ति और आरोग्य से प्रभावित थे; वे भी इसी साधन से योग्य बने थे। इस लिये इस समयमें भी यही साधन मनुष्योंको लाभदायक हो सकता है।

"देव" शब्दका अर्थ "इंद्रिय" भी है। इंद्रियां ब्रह्मचर्य के कारण सुदृढ पुष्ट तथा बलवान हो जाती हैं, अपना अपना कार्य करनेके लिये अत्यंत योग्य होती हैं तथा अत्यंत दीर्घ आयुष्य की समाप्ति तक स्वकार्य उत्तमताके साथ करती हैं। यहां ब्रह्मचर्य का अर्थ वीर्य संरक्षण है। शरीरमें वीर्य स्थिर रहनेसे संपूर्ण इंद्रियां हृष्ट-पुष्ट होती हैं। ब्रह्मचर्यका अर्थ "आत्मा के साथ रहना" भी होता है। इंद्रियोंमें जो चेतनता है वह आत्माके साथ रहनेके कारण ही है। आत्माका सान्निध्य जबतक होता है, तबतक उनमें तेज होता

है, आत्मा जब शरीर छोड़ देता है, तब इंद्रियां निर्वीर्य होनेके कारण निस्तेज होती हैं । अग्नि वायु आदि देव भी ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्मके साथ रहनेसे अपने अपने गुण धर्मसे युक्त हैं । इसलिये मंत्रके द्वितीयार्धमें कहा है कि, " इंद्र सब देवोंको तेज देता है " अर्थात् जीवात्मा शरीरके इंद्रियोंमें तेज रखता है, परमात्मा अग्न्यादि देवोंमें तेज रखता है । आत्माके तेजसे ही सब अन्य देव तेजस्वी होते हैं ।

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः ॥
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २० ॥

अर्थ—औषधियां, वनस्पतियां, (ऋतुभिः सह संवत्सरः) ऋतुओंके साथ गमन करनेवाला संवत्सर, अहो रात्र, भूत और (भव्यं) भविष्य ये सब ब्रह्मचारी (ते जाताः) हो गये हैं ।

(३७) औषधि आदिकोंका ब्रह्मचर्य ।

सूर्य ब्रह्मचारी है क्यों कि वह ब्रह्मके साथ संचार करता है किंवा तेजके साथ रहता है । इस ब्रह्मचारी सूर्यसे संवत्सर अर्थात् वर्ष, ऋतु, मास, दिन रात्रि, तथा भूत वर्तमान और भविष्य ये तीनों काल प्रकट हो रहे हैं । यह सूर्यके ब्रह्मचर्यका महिमा है ।

ओषधि वनस्पति भी ऊर्ध्वरेता होनेके कारण ब्रह्मचारिणी हैं। औषधिवनस्पतियोंका जनक मेघ किंवा पर्जन्य है । यह मेघभी ब्रह्मचारी हैं क्यों कि वह "ऊर्ध्व–रेताः" है । "ऊर्ध्व" अर्थात् ऊपर धारण किया है, " रेतः " अर्थात् उदक जिसने, ऐसा मेघ है; इसलिये वह " ऊर्ध्व–रेता " है और इसी हेतुसे ब्रह्मचारी भी है। इसी ब्रह्मचर्य सूक्तके मंत्र १२ में मेघ ब्रह्मचारीका वर्णन आचुका है। वहां कहा है कि यह " ब्रह्मचारी मेघ गर्जना करता हुआ पहाडों पर और भूमिपर (रेतः) उदक का सिंचन करता है, उससे सब दिशायें जीवित रहतीं हैं।" ऊर्ध्वरेता होनेके कारण मेघमें सृष्टिका पालन करनेकी शक्ति आगई है, इस प्रकार जो ऊर्ध्वरेता होगा उसमें भी पालन करनेकी शक्ति आसकती है। सूर्यभी अपने किरणोंसे उदकरूपी रेतको ऊपर खींचता है। मनुष्य भी प्राणके आकर्षण से अपने वीर्यको ऊपर खींचता है। इसप्रकार मेघ और सूर्यके उदाहरणसे ब्रह्मचर्यका माहात्म्य वर्णन किया है—

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ॥ अपक्षा पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २१ ॥

अर्थ—(पार्थिवाः) पृथिवीपर उत्पन्न होनेवाले (आरण्याः

ग्राम्याश्च) अरण्य और ग्राममें उत्पन्न होनेवाले जो (अपक्षाः पशवः) पक्ष हीन पशु हैं, तथा (दिव्याः पक्षिणः) आकाशमें संचार करनेवाले जो पक्षी हैं, वे सब ब्रह्मचारी (जाताः) बने हैं।

भावार्थ—सब पशुपक्षी जन्मसे ही ब्रह्मचारी हैं।

(३८) पशुपक्षियोंका ब्रह्मचर्य।

पहिले बैल और घोड़ेके विषयमें मंत्र १८ में कहाही है कि वे ब्रह्मचारी हैं। प्रायः सभी पशुपक्षी ब्रह्मचारी हैं, बंदर आदिमें वीर्यका नाश करनेका अभ्यास दिखाई देता है, परंतु साधारणतः पशु ऋतुगामी होते हैं, ऋतुकालसे भिन्न समयमें न तो वे स्त्रीके पास जाते हैं, और न स्त्री उनको अपनेपास आने देती है। सिंह व्याघ्र आदि क्रूर पशुओंमें तो यह ब्रह्मचर्य और एकपत्नी व्रत विशेषही तीव्र है। परमात्माने उनमें कुछ ऐसी व्यवस्था की है कि उनको ऋतुकाल को छोड़कर अन्य समयमें स्त्रीपुरुष विज्ञानभी नहीं होता। कई पशुपक्षी इस नियममें अपवादभी हैं, परंतु यह अपवाद पूर्वोक्त नियम ही सिद्ध कर रहा है। पशुपक्षियोंका ब्रह्मचर्य देखकर उनसे मनुष्योंको इस विषयमें बोध लेना चाहिये। पूर्व मंत्रमें कहा है कि औषधि वनस्पतियां आदिभी ऋतुकालमें ही पुष्पवती होनेके कारण ऋतुगामी होनेसे ब्रह्मचारी हैं। संवत्सर तो ऋतुओंमें ही गमन करता है इसलिये वह भी ऋतुगामी होनेसे ब्रह्मचारी है। भूतभव्य अहोरात्र आदि कालभी ऋतुके साथ गमन करता है इसकारण ब्रह्मचारी है। यहांका ऋतुगमन आलंकारिक है, परंतु उससे ऋतुगामी होकर ब्रह्मचारी होनेका बोध मिलता है।

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ॥ तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्म चारिण्याभृतम् ॥ २२ ॥

अर्थ—(सर्वे प्राजापत्याः) प्रजापति परमात्मासे उत्पन्न हुए हुए सबही पदार्थ पृथक् पृथक् (आत्मसु प्राणान्) अपने अंदर प्राणोंको (बिभ्रति) धारण करते हैं । (ब्रह्मचारिणि आभृतं) ब्रह्मचारीमें रहा हुआ (ब्रह्म) ज्ञान (तान् सर्वान् रक्षति) उन सबका रक्षण करता है ।

(३९) ज्ञानसे संरक्षण ।

प्रत्येक पदार्थमें स्वतंत्र प्राणशक्ति है । प्रत्येक पदार्थमें स्वतंत्र आत्मसत्ता विद्यमान है । प्राणके विना जिस प्रकार मनुष्य और पशु-पक्षी जीवित नहीं रह सकते, उसीप्रकार वृक्ष वनस्पती औषधि आदि भी जीवित नहीं रह सकते । हरएक में अपना अपना व्यक्तित्व जैसा अलग अलग है, वैसी ही उसमें प्राणशक्तिभी अलग अलग विद्यमान है । जगत्में इसप्रकार विविधता सर्वत्र दिखाई देगी । यह व्यक्तित्व स्थावर जंगमसे लेकर उच्च प्राणीके अस्तित्व तक विद्यमान है । इतनाही नहीं परंतु सूर्य चंद्र नक्षत्र आदि बडे बडे गोलोंका व्यक्तित्व भी इसी प्रकार अलग है ।

ब्रह्मचारीका ज्ञान इन सबका संरक्षण करता है, यह मंत्रका कथन स्पष्ट ही है। क्यों कि ज्ञानसे ही सबका संरक्षण होना है।

देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम् ॥ तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥२३॥

अर्थ—देवोंका (एतत्) यह (परि-षूत) उत्साह देनेवाला (अन् अभ्यारूढं) सबसे श्रेष्ठ (रोचमानं) तेज (चरति) चलता है। उससे ब्रह्मसंबंधी श्रेष्ठ ज्ञान हुआ है और अमर मनके साथ सब देव प्रकट होगये।

(४०) देवोंका तेज।

जो उत्साह और स्फुरण देता है, जो सबसे श्रेष्ठ भाव उत्पन्न करता है और जो स्वयं तेजयुक्त होकर दूसरोंको भी तेजस्वी करता है, वह देवोंका तेज है। राष्ट्रमें विद्वान देव होते हैं और वे उक्त प्रकारका चैतन्यपूर्ण तेज अपने राष्ट्रमें उत्पन्न करते हैं। शरीरमें ज्ञान इंद्रिय तथा अंतःकरण आदि देव हैं कि, जो जड़ शरीरमें रहकर उससेभी विलक्षण स्फुर्त्तिका कार्य करा रहे हैं। तथा संपूर्ण जगत् में सूर्य चंद्रादिक देव अपना विलक्षण तेज फैलाकर सब जगत् को चेतना दे रहे हैं। तात्पर्य यहकि सर्वत्र यही नियम है कि, जो देव

होते हैं, वे श्रेष्ठ तेजका प्रसार करके विलक्षण उत्साह उत्पन्न करते हैं।

वही तेज, ज्ञान और स्फूर्ति ब्रह्मचारीसे फैलती है और देवोंमें कार्य करती है और अमरपन भी देती है। (इस मंत्रका द्वितीय अर्धभाग मंत्र ९ में आया है, वहां इसका स्पष्टीकरण देखिये.)

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजंद्बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः ॥ प्राणापानौ जन-यन्नाद्व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ २४ ॥ चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धे-ह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥ २५ ॥

अर्थ—(भ्राजत् ब्रह्म) चमकने वाला ज्ञान ब्रह्मचारी धारण करता है। इस लिये उसमें सब देव (अधि समोताः रहे हैं। वह प्राण, अपान, व्यान, वाचा, मन, हृदय, ज्ञान (आत्) और मेधा (जनयन्) प्रकट करता है ॥ इसलिये हे ब्रह्मचारी! (अस्मासु) हम सब में चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, (रेतः) वीर्य, (लोहितं) रुधिर और (उदरं) पेट (धेहि) पुष्ट करो।

(४१) उपदेशका अधिकारी।

ब्रह्मचारी विलक्षण ज्ञान प्राप्त करता है और इस लिये उसका अद्भुत तेज फैलता है। इस हेतुसे उसके अंदर सब देवता ओत-

प्रीत होकर रहते हैं । उससे कोई देवता और उसकी शक्ति अलग नहीं होती । अर्थात् सब देवताओंकी पूर्ण शक्तिके साथ वह अपना कार्य चलाता है । प्राणायामादि योगसाधनद्वारा वह अपने प्राण अपान व्यान आदि सब प्राणोंको अपने आधीन करता है । प्राण वश होनेसे उसका मन वश होता है, क्यों कि प्राण और मन शरीरमें एकत्र मिलेजुले रहते हैं । यदि प्राण निर्बल रहा तो मन निर्बल रहता है और मन स्थिर होनेपर प्राणकी चंचलता भी दूर हो जाती है । प्राण और मन स्थिर होनेसे हृदय की दिव्य शक्ति प्रकट होती है, तथा हृदय और मन नियम बद्ध होनेसे मेधाबुद्धि में ज्ञान का संचय होने और बढने लगता है । अब उसकी योग्यता होती है कि वाणीद्वारा वह अपने ज्ञानका प्रचार करे । इसी प्रकारके सुयोग्य उपदेशक के वक्तृत्वसे जनता प्रभावित होती है । क्यों कि उसका कथन अनुभवके अनुकूल होता है ।

इस कारण लोग चाहते हैं कि अपने उद्धारका कोई सदुपदेश उससे प्राप्त हो । जहां उक्त ब्रह्मचारी पहुंचता है वहांके सज्जन उससे कहते हैं कि, हे ब्रह्मचारी ! हमें उपदेश दो ! चक्षु श्रोत्र आदि इंद्रियोंकी शक्ति बढाने तथा उनको नीरोग और प्रभावशाली करनेकी रीति बताओ । कोई कहते हैं कि, अन्न की न्यूनता बड़ा कष्ट दे रही है, इसलिये कहो कि विपुल अन्न कैसे प्राप्त होगा ? कोई महाजन पूछते हैं कि पेट ठीक करनेका उपाय क्या हैं, हाजमा ठीक नहीं है, इसका कोई उपाय कहो ।

पूछते हैं कि हमारा वीर्य स्थिर नहीं रहता और खून भी खराब होगया है इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये ।

ब्रह्मचारीका तेजस्वी चेहरा देखनेसे सब लोगोंको विश्वास होता है कि, इसका अनुभवी ज्ञानका उपदेश हमारा उद्धार अवश्यही करेगा । ब्रह्मचारीभी सबको योग्य उपदेश देता है और इसप्रकार संपूर्ण जनताको अपने पास आकर्षित करता है तथा उनके अभ्युदय निश्रेयस् का निश्चित मार्ग बताता है ।

तानि कल्पंद्ब्रह्मचारी सलिलस्यं पृष्ठे तपों ऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे ॥ स स्नातो बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ २६ ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी (तानि) उनके विषयमें (कल्पत्) योजना करता है । (सलिलस्य पृष्ठे) जलके समीप तप करता है । इस ज्ञान समुद्रमें (तप्यमानः) तप्त होनेवाला वह ब्रह्मचारी (स स्नातः) जब स्नातक हो जाता है तब (बभ्रुः पिंगलः) अत्यंत तेजस्वी होने के कारण वह इस पृथिवीपर बहुत चमकता है ।

पूर्वोक्त प्रकार जो जो प्रश्न लोग पूछते हैं, उनका यथायोग्य उत्तर ब्रह्मचारी देता है । योजना और युक्ति पूर्वक सब की शंकाओंका निरसन करता है और उनको ठीक मार्गपर चलाता है । इतनी

योग्यता होनेपर भी अपनी आत्मिक शक्ति बढानेके लिये वह पवित्र स्थानमें रहता हुआ तप करता है आर आत्मशक्तिका विकास करता ही रहता है। इस प्रकारका तपस्वी जब अपने तपकी समाप्ति करता है और तपस्याके प्रभावसे जब प्रभावित आत्मशक्तिसे युक्त होता है तब अत्यंत तेजस्वी होनेसे इस पृथिवीपर उसकी शोभा अत्यंत बढती है। यह ब्रह्मचर्यका तेज है इसलिये हरएकको ब्रह्मचर्यके सुनियमोंका पालन करके अपनी आत्मशक्तिका विकास करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य साधनका अनुभवसिद्ध उपाय।



वीर्य रक्षण करनेकी युक्ति।

ब्रह्मचर्य अर्थात् वीर्य रक्षण करनेके उपायोंके विषयमें अनेक लोग तथा विशेष कर तरुण विद्यार्थी पूछते हैं। उनके हितके लिये यहां कुछ बातें लिखता हूं। इन बातोंका कई मित्रोंके शरीर पर अनुभव देखनेके कारण इनके अनुष्ठानमें कोई धोखा नहीं है। तथा इनके अनुष्ठामसे इष्टसिद्धि अवश्यही होती है। परंतु शरीरकी प्रकृतिके भेदके कारण फलके विषयमें कुछ न्यूनाधिक होना संभव है।

ब्रह्मचर्य, वीर्यरक्षण, संयम, दमन, इंद्रिय निग्रह, ऊर्ध्वरेता होना, अमोघ वीर्य बनना आदि शब्दोंका मूल तात्पर्य प्रायः एकसाही है।

ब्रह्मचर्य और वीर्य रक्षण ये शब्द आजकल एकही अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। संयम, दमन, इंद्रिय निग्रह इन शब्दोंमें यद्यपि अन्य इंद्रियोंकी स्वाधीनताका भाव व्यक्त होता है, तथापि उन सबका मुख्य उद्देश उपस्थ इंद्रियका निग्रह करनेमें ही है। ऊर्ध्वरेता होनेका तात्पर्य इतनाही है कि, साधारण स्थितिमें वीर्यका प्रवाह नीचे की ओर होता है, वीर्य जलरूप होनेके कारण उसका प्रवाह नीचे की ओर होना स्वाभाविक भी है; परंतु वीर्यका प्रवाह नीचे होनेसे, वीर्य भ्रष्ट होजाता है, और उससे शरीर निर्वीर्य बनता है, जिसके कारण मस्तिष्क की शक्ति भी न्यून होती है और अंतमें मनुष्य न तो शारीरिक कार्य करनेके योग्य रहता है और न मानसिक कार्य करनेके योग्य बन सकता है; इस लिये मानसिक इच्छा शक्तिद्वारा वीर्यका प्रवाह नीचेकी तरफ न कराके, उसकी 'ऊर्ध्वगति' करनी और वीर्यको अपने पृष्ठ वंशमेंसे मस्तक तक पहुंचाना; यही "ऊर्ध्व-रेता" होनेका तात्पर्य है। जिसका वीर्य इसप्रकार ऊर्ध्व मार्गसे ऊपर दीमागतक पहुंचता है, उसके दीमागकी शक्ति अपूर्व होती है, शरीरकी कांति बड़ी रमणीय होती है तथा सब प्रकारकी प्रसन्नता उसकी वृत्तिमें रहती है। इसलिये ऊर्ध्वरेता बननेका यत्न हरएकको अवश्य ही करना चाहिये। 'अमोघ वीर्य' का तात्पर्य यह है कि, वीर्यका बिंदु योनिस्थानमें चले जानेके पश्चात् अवश्यही इच्छाके अनुसार संतान उत्पन्न हो अर्थात् यदि लड़का पैदा करनेकी इच्छा है तो लड़काही हो, और यदि लड़की पैदा करनी है तो निश्चयसे लड़की हीं हो। इतनाही नहीं परंतु जिसप्रकारके गुण धर्मसे युक्त

लडका अथवा लडकी उत्पन्न करनेकी मातापिताकी इच्छा हो, उसीप्रकारका लड़का अथवा उसीप्रकारकी लड़की उत्पन्न हो। बृहदारण्यक उपनिषद्के अंतिम अध्यायमें अपनी इच्छानुसार लड़का अथवा लड़की उत्पन्न करनेंके उपाय दिये हैं। पाठक इस लिये उस उपनिषद्का प्रकरण अवश्य देखें। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्रादि वृत्तिधर्मोंसे युक्त संतान उत्पन्न किये जा सकते हैं, इतनाही नहीं, प्रत्युत विद्वान्, तत्त्वज्ञानी आदि प्रकारके विशिष्ट उच्च योग्यताके भी संतान 'अ-मोघ-वीर्य' त्वकी प्राप्ति करनेपर हो सकते हैं। विशिष्ट उच्च संतान उत्पन्न करना यह बात दैवयोगकी वास्तविक नहीं है। परंतु मनुष्य अपने आत्मिक बलसे संपन्न होनेपर उक्त सिद्धि उसको प्राप्त हो सकती है। साधारण रीतिसे 'अमोघवीर्य' की सिद्धि संपूर्ण पशुपक्षियों में है। "अ-मोघ-वीर्य" का अर्थ यह है कि जिसका वीर्य व्यर्थ नहीं जाता, अवश्यही उससे संतान उत्पन्न होता है। प्रायः सब पशुओंका वीर्य फलीभूत होता ही है। इतनी पशुओंके समान सिद्धि मनुष्य सुगमतासे प्राप्त कर सकता है। थोडासा संयम करनेसे यह सिद्धि प्राप्त होती है। परंतु मनुष्यमें इतनी ही सिद्धि होनेसे पूर्णता नहीं होती, क्यों कि सब सृष्टिमें मनुष्यही पूर्ण शक्तिसे संपन्न है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि यह अपनी प्रबल इच्छा शक्तिद्वारा ऐसा दृढ संयम करे कि, उससे अपनी इच्छाके अनुरूप ही संतान उत्पन्न होनेका निश्चय हो। माता और पिताकी मिलकर एकही इच्छा होनेसे, और मातापिता संयमी होनेसे उक्त बात पूर्णतासे सिद्ध हो सकती है। ब्रह्मचर्य व्रतकी उक्त सिद्धियां

हैं । इनको कैसे सिद्ध किया जा सकता है, इसका विचार अब करना है ।

(४२) संयम का विचार ।

ब्रह्मचर्यकी सिद्धि प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक इंद्रियको अपने आधीन करनेकी आवश्यकता है । किसी इंद्रियके स्वैर होनेसे अंतिम परिणाम " वीर्य नाश " ही है । मान लीजिये एक पानीका हौज है और उसको दस सुराख हैं । जितने सुराख खुले रहेंगे उतना पानी बाहिर चला जायगा। यही प्रकार शरीरमें होता है। शरीर रूपी बडे हौजमें वीर्य रूपी जल-भरा है । इस हौजके प्रत्येक इंद्रिय के स्थानमें एक एक सुराख अथवा छिद्र है । जो इंद्रिय खुला रहेगा उससे अंदरकी शक्ति बाहिर चली जायगी । और जितना इंद्रियोंका संयम होगा उतनी शक्ति बचेगी । यह बात यहांतक सत्य है कि एकशब्द उच्चारण करनेसे उतनी शक्ति चली जाती है । इस बातको जो जानते हैं वे कम बोलते हैं अथवा " मुनि " बनकर बोलना ही बंद करते हैं । इसका परिणाम यह होता है कि, उनके मुखसे जो शब्द कभी किसी समय निकल-ते हैं वे सत्य हो जाते हैं ! ! ! हम अधिक बोलते रहते हैं, इसलिये हमारे शब्दमें न कोई वीर्य रहता है और न हमारे शब्दोंकी कीमत ही होती है । इसका तात्पर्य यह है कि जितना हम संयम अधिक करेंगे, उतना हमारा बल बढता जायगा । पाठक इस बातको सोचवि-चार कर ठीक ठीक समझनेका यत्न करें, क्यों कि इस बातका ज्ञान होनेसेही आगेकी सिद्धि उनको प्राप्त हो सकती है ।

(४३) संयमकी रीति।

ज्ञान प्राप्त करने की पांच इंद्रियां हैं और उनके पांच विषय निश्चित हैं। शब्द स्पर्श रूप रस गंध इन पांच विषयोंका ग्रहण करनेकी शक्ति धारण करनेवाली पांच इंद्रियां हैं, उनके नाम क्रमशः कर्ण, त्वचा, आंख, जिव्हा और नाक हैं। इनका संयम करनेकी रीति देखिये—

शब्द विषयका संयम—जिन शब्दोंसे शक्ति हीनताका भाव उत्पन्न हो सकता है, उन शब्दोंको सुननाही नहीं। परंतु ऐसे उत्तम उपदेश और ओजस्वी व्याख्यान एकाग्रतासे श्रवण करने चाहिये कि, जिनसे आत्मशक्ति का विकास करनेके मार्गका ज्ञान हो सके। वास्तविक शब्दसृष्टि एक रीतिसे ब्रह्मशक्ति ही है परंतु स्वार्थी राक्षस वृत्तिवाले लोगोंके प्रयत्नसे उन पवित्र शब्दोंका इतना दुरुपयोग हो रहा है कि, उसका वर्णन ही करना अशक्य है। इस लिये बड़ी सावधानीके साथ स्वयं शब्दोंका उपयोग करना चाहिये और सुननेके समयमें भी उतनी ही सावधानी रखनी चाहिये। पुस्तक अथवा लेख पढ़नेके समयमें भी इसीप्रकार सावधानी रखनी चाहिये। आजकल विशेषतः ऐसे विकारी ग्रंथ बहुतसे प्रकाशित हो रहे हैं, इसलिये इसका विशेष विचार करनेकी आवश्यकता है।

ब्रह्मचर्यकी सिद्धिका यहां विचार करना है इसलिये इसके विरोधी भाव जिन ग्रंथोंसे उत्पन्न होना संभव हैं वैसे ग्रंथ कभी नहीं पढने चाहिये, तथा उस प्रकारके शब्द किसी कारणभी अपने श्रवण इंद्रियमें न पडें, ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये। यदि किसी समय उक्त

विचार अपनेपास आगये, तो उनको उसीसमय भूलना उचित है। इस रीतिसे शब्दोंके बोलने और सुननेके विषयमें विचारी पाठक अपनी परिस्थितिके अनुसार विचारपूर्वक नियम कर सकते हैं।

स्पर्शविषय का संयम—शरीरकी संपूर्ण त्वचा स्पर्श विषयके साथ संबंध रखती है। स्पर्श इंद्रियका विचार करनेसे पता लग जाता है, कि इसको मृदु स्पर्श चाहिये, हमेशा नरम नरम पदार्थ पास आनेसे खुशी होती है। जो मनुष्य इस इंद्रियके आधीन हो जाते हैं, वे मृदुस्पर्शके पदार्थ प्राप्त करनेमें अपना संपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। परंतु इतना करनेपर भी इसकी तुष्टि नहीं होती। इस स्पर्श इंद्रियके अंदर उपस्थ-गुह्य किंवा शिश्न इंद्रियका विशेष भय है। इस एक इंद्रियके उन्मत्त होनेसे संपूर्ण शरीरका घात हो जाता है। इसलिये शरीरको कोमल स्पर्श के पदार्थोंसे दूर रखना चाहिये। नरम नरम बिस्तरे पर सोनेका अभ्यास नहीं करना चाहिये। सख्त जमीन अथवा पट्टेपर एकदो कंबल पर ही सोनेका अभ्यास करनेसे बड़ा लाभ होता है। तथा शरीरपर जो कपड़े हों, वे भी नरम नरम न हों। विशेषतः तरुण मनुष्योंको इस बातका अधिक ख्याल रखना चाहिये। नियमपूर्वक मृदुस्पर्शके पदार्थोंको दूर और कठोर स्पर्शके चीजों को पास करनेसे कुछ समयके पश्चात् मनको वैसाही अभ्यास हो जाता है।

रूप विषयका संयम—आंखें सुंदर रूप देखना चाहती हैं कुरूपताको नहीं। पाठक विचार करेंगे, तो उनको इस बातका अवश्य पता लग जायगा कि स्पर्श और रूप

विषयका निकट संबंध है, और उसके कारणही प्रायः तरुण मनुष्य गिरजाते हैं। सृष्टिकी जो नैसर्गिक सुंदरता है उसको देखकर परमेश्वरकी कारीगरीकी अद्भुतताका अवश्य विचार करना चाहिये। परंतु मनुष्यका वीर्य नष्ट करनेवाले किसी रूपमें मोहित होकर अपनी शक्तिको कम नहीं करना चाहिये।

रस विषयका संयम—जिव्हा मधुर रस लेनेके लिये सदा तत्पर रहती है। इस जिह्वाकी लुब्धताके कारण कितने खानपानके विविध प्रकार बन गये हैं। खानपानके विविध प्रकार बननेसेही सब बीमारीकी उत्पत्ति है। नरम नरम मिठाई खानेसे और करारे पदार्थोंकी रोचकतामें लुब्ध होनेसेही पेट बिगड जानेका प्रारंभ होता है। विविध प्रकारके उत्तेजक मसालेदार पदार्थ भक्षण करनेके कारणही अकालमें वीर्य क्षीण हो रहा है। प्रतिदिन बीमारीके बढ़ जाने, मनुष्योंके अशक्त हो जाने, और निर्वीर्य बननेका सबसे प्रधान कारण जिव्हाकी लुब्धताही है। इस लिये बिल्कुल सादी दालरोटी, दूध, चावल, घी, सादी साक भाजी आदि सात्विक रीतिकाही भोजन स्वीकार करना चाहिये। और निश्चयपूर्वक चा, काफी, कोको, सोडावाटर आदि दुष्ट मादक और घातक पदार्थ कदापि सेवन नहीं करने चाहियें। बिलकुल सीधा सादा भोजन करने और शुद्ध पानी पीनेसे बडेही लाभ हैं। **आजकल बजारोंमें खाद्य पेयोंकी दुकानें बढ़ रही हैं, वह हमारी सभ्यताका भूषण समझी जाती हैं, परंतु हमारे आरोग्यको जलानेवाले वे स्मशानाग्नि हैं!!!** इस लिये उनके पास कभी नहीं जाना चाहिये। खानपानके विषयमें

बहुत कुछ लिखना आवश्यक है और जिह्वाके संयमपरभी बहुत आंदोलन होना चाहिये, परंतु यहां उतना स्थल नहीं है; इस लिये केवल सूचनाके लिये थोडासाही लिखा है । पाठक अपनी अनुकूलताके अनुसार अपना खानपान ठीक कर सकते हैं । और जिव्हाकी गुलामीसे दूर रह सकते हैं ।

गंधका संयम—नासिकासे सुगंध लिया जाता है । इस सुगंधके लिये नाक सब धड़पड़ करता है । इस विषयमेंभी पाठक अपनी अनुकूलताके अनुसार योग्य नियम कर सकते हैं ।

उक्त पाचही इंद्रियोंकी गुलामीसे बचना आवश्यक है । प्रत्येक इंद्रियसे योग्य काम लेना चाहिये परंतु उसका गुलाम बनकर कभी नहीं रहना चाहिये । इंद्रियोंसे ऐसा कोई उपभोग नहीं लेना कि जिससे शक्तिकी क्षीणता हो सके । उक्त पाच ज्ञानइंद्रियोंसे भिन्न पांच कर्मइंद्रियां हैं, हाथ, पांव, मुख, गुदा और उपस्थ इनसेभी योग्य कार्यही लेना चाहिये । हाथ और पांवको उत्तम कार्यमें प्रवृत्त करना चाहिये । मुखका कार्यभी ऐसा करना चाहिये कि जिससे किसी प्रकार हानि न हो सके । गुदाके स्थानकी मलशुद्धिद्वारा पवित्रता करना उचितही है । उपस्थ, मूत्रइंद्रिय अथवा शिस्न यही इंद्रिय प्रस्तुत विषयके साथ संबंध रखनेवाला है, इसकी विशेष सावधानी रखनी उचित है ।

मनमें सुविचार रखने चाहिये, बुद्धिसे उत्तम भावना धारण करना योग्य है, तथा आत्मामें सदाही यह विचार रखना चाहिये कि "मैं अवश्यही ऊर्ध्वरेता बनूंगा" इस प्रकार संपूर्ण इंद्रियों

और आत्मशक्तियोंको क्रमशः अपने वशमें करनेका यत्न करनेसे बड़े लाभ होते हैं। पाठक स्वयं अपनी शक्तिका विचार करके निश्चयात्मक वृत्तिके साथ प्रयत्न करेंगे, तो उक्त शक्तियोंको स्वाधीन करना उनके लिये बिलकुल कठिन नहीं है । इस प्रकार आंतरिक परिस्थितिका विचार है, अब बाह्य परिस्थितिका विचार करना है ।

(४४) बाह्य परिस्थिति ।

ब्रह्मचर्यका विचार करनेके समय बाह्य परिस्थितिकाभी थोडासा विचार करना आवश्यक है । मनुष्य जिस कुटुंबमें अथवा परिवारमें पाला जाता है, उस कुटुंब अथवा परिस्थितिमें यदि अच्छे पोषक विचार न रहेंगे, तो उसमें पला हुआ विद्यार्थी ब्रह्मचारी नहीं रह सकता । इसी प्रकार मोहल्ला तथा ग्रामके सामूहिक विचारोंपरभी ब्रह्मचर्यका रहना अथवा न रहना अवलंबित है ।

आजकल शहरोंमें नाटक, सिनेमा, आदि मनोरंजनके जो व्यवसाय चल पड़े हैं, उनकाभी बडा घातक परिणाम हो रहा है ! ! विचारी लोगोंको चाहिये कि वे इसका कुछ इलाज करें । क्यों कि जिससे संतानोंकी हानि होती है, वे व्यवसाय जारी रखना राष्ट्रकी दृष्टिसे बडाही घातक है; इसके अतिरिक्त **विविध प्रकारके अश्लील उपन्यास बाजारोंमें बेचे जाते हैं, मासिक-पत्रोंमेंभी अश्लील कथाओंके प्रकाशित करनेके लिये किसी प्रकारका प्रतिबंध नहीं है ! ! !** इस कारण ऐसे घृणित पुस्तक नवयुवकोंके सामने आजाते हैं कि, जिनके कारण उन कोमल

हृदय युवकोंका मन बिगड़ना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। वास्तवमें इसके विषयमें कुछ व्यवस्था होनी चाहिये। परंतु यह कार्य कौन करेगा ?

अखबारों और मासिकोंमें "विज्ञापन" छापनेके विषयमें सब प्रकारकी सभ्यताका खून हो रहा है, इसका विचार स्वार्थी वृत्तपत्रकार तथा मासिक पत्रके लोभी संचालक नहीं करते ! ! ! कई विज्ञापनोंकी भाषा इतनी अश्लील होती है कि वैसी भाषाके विज्ञापन छापनाभी ये विद्वान् कैसे पसंद करते हैं, इसका हमें बड़ा आश्चर्य प्रतीत होता है ! पत्रकारोंका घृणित स्वार्थही, इसमें सुधार होनेका प्रतिबंधक है। कई विज्ञापन पढ़कर उनसे विविध प्रकारकी दवाइयां मंगवाकर नवयुवक फँस जाते हैं और अपनी निरोगताकी आहुती देकर अंतमें ऐसे पछताते हैं कि, उनकी दीन स्थिति देखकर पत्थर–दिलभी रोयेबिना नहीं रह सकता ! ! परंतु वृत्तपत्रकारोंको, अपने राष्ट्रीय कर्तव्यका ज्ञान न होनेके कारण, वे अपनेही भाइयोंके रक्तसे भरा हुआ पैसा अश्लील विज्ञापनोंको वारंवार छापकर, स्वीकारते हैं और घृणित तथा घातक पदार्थोंका प्रचार करके अपनी ही जातिका घात करते हैं ! ! खास कर धार्मिक प्रचारके लिये ही जो अखबार चले हैं, उनमें जिस अंकके अंदर ब्रह्मचर्य संवर्धनके विषयपर अग्रलेख होता है, उसी अंकमें शिस्नोदर परायणताके विज्ञापन छापे जाते हैं, तब इन पत्रकारोंका ढोंग देखकर बडीही घृणा होती है ! ! परंतु किया क्या जाय ? जिस देशमें ऐसी बाह्य

परिस्थिति हो, उस देशमें पूर्ण ब्रह्मचर्यका साधन होना अत्यंत कठिन है। ब्रह्मचर्यका साधन तब हो सकता है कि, जब देशभरमें ब्रह्मचर्यका वायुमंडल हो। पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य सूक्तका विचार करनेसे पाठकोंको ज्ञात हुआही होगा, कि **ब्रह्मचर्यका वायुमंडल बननेकी आवश्यकता है**। पृथ्वी, चंद्र, सूर्य, मेघ, जल, वायु, वृक्ष वनस्पति, पशुपक्षी, गुरु, राजा, राजपुरुष आदि सबमें ब्रह्मचर्यका भाव प्रतिबिंबित होना चाहिये। और उसका अनुभव ब्रह्मचारीको होना चाहिये। क्या ऐसा वैदिक वायुमंडल आज कलके समयमें बनाया जा सकता है? इसका उत्तर यही है कि—"निःसंदेह किया जा सकता है, परंतु सच्चे दिलसे कार्य करनेवालोंकीही आवश्यकता है"

प्रिय पाठको! आज कलकी परिस्थिति इससेभी भयानक है। परंतु इसको देखकर आप न घबराइये। बिकट परिस्थिति देखकर आपको अधिक धैर्यके साथ कार्य करना चाहिये। आपमेंसे प्रत्येक मनुष्य यदि पूर्ण निश्चय करेगा और अपनी आत्मशक्तिपर भरोसा रखेगा, तो इस परिस्थितिकोभी बदल सकता है। इस लिये आज इसी समय ऐसा निश्चय कीजिये कि, **"मैं स्वयं अपना ब्रह्मचर्य अवश्यही पालन करूंगा, मेरे मित्रोंके ब्रह्मचर्य पालन करनेके विषयमें सहायता दूंगा, तथा अपने देशका वायुमंडल, ब्रह्मचर्यके विचार फैलाकर, सुधारनेका यत्न करूंगा।"** पूर्ण निश्चय कीजिये और अपना वायुमंडल आप अपने यत्नसे बनाइये।

(४५) ब्रह्मचर्यसे आयुष्य वर्धन ।

सर्व साधारण यह नियम है कि, कुमारभाव जितनी आयुष्यतक रहता है उससे पांच या छः गुणा उसका आयुष्य होता है। "कुमार भाव" का यहां उद्देश इतनाही है कि, तारुण्यके कामविकार का अभाव। तारुण्यके काम विकारका प्रादुर्भाव जिस समय होता है, उस समयतक जो आयु व्यतीत होती है, उसका नाम "बाल्य-भावकी आयु" किंवा कुमार भावका आयुष्य है। इसके पांच अथवा छः गुणा पूर्णायु होती है। साधारण उच्च परिस्थितिमें बीस वर्षकी आयुमें मनुष्यका बाल्यआयु समाप्त होकर तारुण्यका प्रारंभ होता है, इसलिये मनुष्यका आयुर्मान १०० वर्षसे १२० वर्षतक होता है। आजकल बाल्यपण घट रहा है और तारुण्य शीघ्र आने लगा है, इसलिये उतने प्रमाणसे हमारी आयुभी घट गई है। समाजमें, जातिमें तथा राष्ट्रमें ब्रह्मचर्यका घात करनेवाले और अकालमें तारुण्य लानेवाले विचार फैलनेके कारण ऐसा हुआ है। यदि फिर ओजस्वी विचारोंका प्रचार हो जावे, तो निःसंदेह बाल्यभावकी मर्यादा बढ़ेगी और कुल आयुभी वृद्धिंगत हो सकती है। ऋषिमुनियोंने योग नियमोंका सार्वत्रिक प्रचार किया था, और उनका उद्देश था कि, यह बाल्यभाव न केवल २० वर्षतकही रहे, परंतु अधिकभी बढ़े। परंतु आजकल बाल्यभावकी आयु अधिक बढ़नी असंभव हो गई है, क्यों कि योगके आचार और नियम व्यवहारसे दूर चले गये हैं, और दूसरेही बुरे व्यवहार प्रचालित हो गये हैं!!!

इस कारण आजकलके सुविज्ञ नेताओंको उचित है कि, वे अपने भाइयोंको योग नियमोंपर चलानेका यत्न करें। हरएक मनुष्यको उचित है, कि वह अपने प्रयत्नकी पराकाष्ठा करे और बाल्यभावकी आयु बढानेमें सफलता प्राप्त करे।

ब्रह्मचर्य आश्रमका मूल उद्देश यही है। गुरुकुलमें रहना, शहरसे बाहिर रहकर विद्याध्ययनमें निमग्न होना, इत्यादि नियम इसलिये किये गये थे कि, नवयुवक शहरके दुष्ट विचारों, व्यवहारों और आचारोंसे अनभिज्ञ रहें, और उनमें कुमार अवस्थाही दीर्घकालतक रहे। जितनी देरतक कुमार अवस्था रहेगी उसकी पांच या छः गुणा कुल आयु होती है। इसलिये दीर्घ आयु प्राप्त करनेवालोंको उचित है कि वे कुमार अवस्थाका संवर्धन करें और युवकोंको ऐसे स्थानपर रखकर ऐसी रीतिसे पालन करें कि, उनमें तारुण्यका प्रादुर्भाव जलदी न हो सके, तथा बड़ी देरतक कुमार भावही रहे।

इस विषयमें दूसरा साधारण नियम यह है कि, एक वारके वीर्यपातसे साधारणः दस दिनकी आयु कमसे कम घटती है। साधारण अनुमानसे एक वर्षभर वीर्यपात होनेसे कमसे कम दस वर्ष आयु कम हो सकती है। वीर्यकी न्यूनाधिकतापर यह आयु कम होनेका प्रमाणभी न्यूनाधिक हो सकता है। परंतु यहां साधारण प्रमाण लिखा है। जिस समय अज्ञान रहता है, उस समय कुसंस्कारोंसे अथवा बुरी संगतीसे कुछ दोष होभी गया, तो **आगे ज्ञान होनेपर सुधारनेका यत्न अवश्य करना चाहिये**। योगके नियमोंका

उचित रीतिसे पालन होनेसे उत्तर आयुमेंभी पूर्व आयुके कुसंस्कारोंका परिमार्जन किया जा सकता है, और दीर्घ आयु प्राप्त की जा सकती है । तथापि कुमार अवस्थामें यदि कुछभी दोष न हुआ तो बहुतही अच्छा है । इसलिये बाल्य आयु सुरक्षित रखनेका यत्न होना चाहिये ।

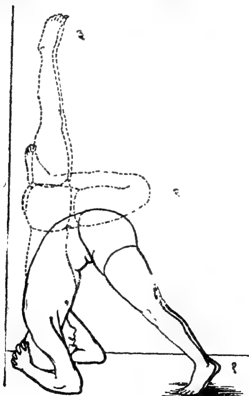
माता, पिता, तथा गुरुजनोंको बालकोंमें यह धुन चलानी चाहिये, और उनके ऐसे भाव बनाने चाहिये कि, उनमें दीर्घ आयु, उत्तम आरोग्य और असाधारण शक्ति बढानेका उत्साह स्थिर रहे और वे तारुण्यके कुसंस्कारोंमें न फँसें । कुमारोंको इसी प्रकारके वायुमंडलमें पालनेसे उनकी सुरक्षितता रह सकती है । इस विषयमें अपनी अपनी परिस्थितिके अनुसार हरएक मनुष्य योग्य परिश्रम कर सकता है ।



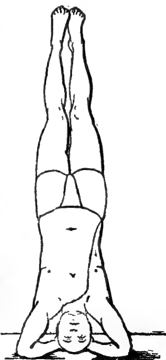
ब्रह्मचर्य रक्षक आसन।

(४६) शीर्षासन।

सिरपर खड़ा रहनेका नाम शीर्षासन है। जमीनपर बहुतही नरम आसन रखकर उसपर सिर रखिये। आसन चार छः अंगुल मोटे गदेलेके समान नरम हो, नहीं तो मस्तकको प्रारंभमें बड़ा कष्ट

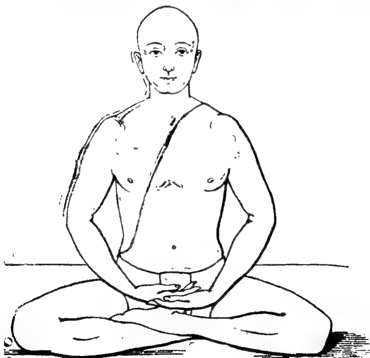


होगा । दोनों तर्फसे सिरके पीछेसे दोनों हाथोंसे सिरको पकड़ लीजिये और पावोंको सीधा करके अपने शरीरको दिवारके साथ समसूत्रमें कर लीजिये । पश्चात् पांवको ऊपर करके फिर पांव सीधे ऊपरही ले जाइये । प्रथम दिन तथा कुछ अभ्यास होनेतक इस आसनको आप दिवारके साथ कर सकते हैं, परंतु अभ्यास होनेके पश्चात् दिवारकी सहायताकी आपको आवश्यकता नहीं रहेगा । अच्छा अभ्यास होनेके पश्चात् आप पांवोंको आगे पीछे, दोनों बाजूमें मर्जी चाहे घुमा सकते हैं । प्रथम आरंभमें एक दो निमेषसे अधिक इस आसनमें रहना ठीक नहीं है, परंतु २।३ मासके अभ्याससे आप आधा घंटातक रह सकते हैं । इसके अनेक लाभ हैं, परंतु मुख्य लाभ वीर्यका प्रवाह ऊपर होता है यही है । इसके करनेसे कोई हानि नहीं है और लाभ बहुत हैं । प्रतिदिन आधा घंटा छः मास करनेसे वीर्य स्थिर होनेका अनुभव आता है । यह आसन स्त्रीपुरुष कर सकते हैं ।



(४७) सिद्धासन।

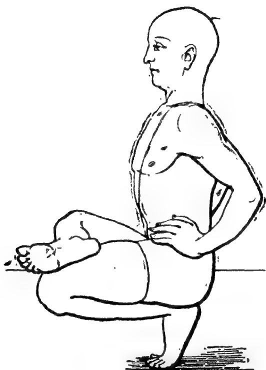
बांयें पाँवकी एडी गुदा और अंडकोशके बीचके भागमें दृढ-ताके साथ लगाइये। और दाहिने पाँवकी एडी इंद्रियके ऊपरके भागमें दृढ लगाइये। ठोड़ी हृदयमें कंठमूलसे थोड़ी दूर हृदयपर लगाकर स्थिर और सीधा शरीर करके पलकों और आंखोंको न हिलाते



हुये भौंहोंके बीचमें दृष्टिको स्थिर कीजिये। यही सिद्धासन है। इसका बड़ा महात्म्य है, परंतु प्रकृत विषयके लिये अर्थात् वीर्य स्थिर करनेके लिये इसका मुख्य उपयोग है। आजन्म ब्रह्मचारी रहनेवालोंके लिये यह आसन अत्यंत सहायक है। इससे कामभाव न्यून होता है, वीर्यविकार दूर होता है, इसलिये गृहस्थाश्रमी मनुष्योंको यह आसन सदा करना उचित नहीं है। तथापि थोड़ी देरतक अभ्यास करनेसे बहुत हानि नहीं हो सकती। गृहस्थाश्रम स्वीकारनेवाले ब्रह्मचारियोंकोभी इसका निरंतर प्रतिदिन अभ्यास करना उचित नहीं है, परंतु अभ्याससे पता लगता है कि स्वल्प काल अभ्यास करनेसे कोई हानि नहीं हो सकती।

(४८) पादांगुष्ठासन।

पाँवकी एड़ीको गुदा और अंडकोशके बीचमें लगाकर उसीपर सब शरीरका भार देकर बैठ जाइये। इस समय एक पांवके चार पांच अंगुलियोंपर ही सब शरीरका भार संभालना होता है, क्यों कि दूसरा पांव घुटनेके ऊपर रखा होता है। सहारे के लिये चाहे एक हाथ दीवारपर अथवा किसी चौकीपर रख सकते हैं। गुदा और अंडकोशके बीचमें चार अंगुली इतना स्थान है। वहां वीर्य नाडिया हैं। उनको एड़ीके दबावसे दबानेसे वीर्यका बाहिर प्रवाह होना बंद होता है। यही एक बात वीर्यस्तंभक सब आसनोंके अंदर मुख्यतया सिद्ध करनी है। गृहस्थाश्रम स्वीकारनेवालोंको इसका

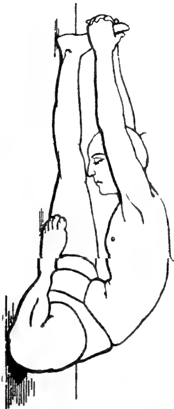


अभ्यास निरंतर करना उचित नहीं है । थोड़ा थोड़ा अभ्यास कर-
नेसे कोई हानि नहीं है ।

(४९) अंघ्रि मूलासन ।

पांव की एड़ीको गुदा और अंडकोशके नीचे रखिये और उस एड़ीपर ही बैठ जाइये । दूसरे पांव की एड़ी दूसरे जंघाके मूलमें लगाकर उसी जंघाके साथ उस पांवको लगाइये । अंडकोशको एक तर्फ करके दोनों पांव ऐसे जमाइये कि उनकी संधिस्थानकी हड्डी एक दूसरीपर आजाये । निश्चय यह कर लीजिये कि एड़ीपर ही बैठना है । प्रथम अभ्यास होने तक सहारेके लिये चूतड़ोंके नीचे कुछ कपड़ा रख सकते हैं । पश्चात् उसकी आवश्यकता नहीं रहेगी । इसप्रकार आसन जमानेके पश्चात् गुदाको और शिस्नको तथा वहांकी सब नस नाडियोंको मनकी आकर्षण शक्तिसे ऊपर खींचनेका यत्न कीजिये । मनके द्वारा ही आप उस प्रदेशको ऊपर खींच सकते हैं । इस ऊपर खींचनेके अभ्याससे सब वीर्यका प्रवाह ऊपर होगा और अभ्यास जैसा जैसा बढ़ता जायगा वैसी वैसी ऊर्ध्वरेता बननेकी सिद्धि प्राप्त होगी । इस समय श्वास शनैः शनैः परंतु पूर्णरीतिसे अंदर लीजिये और थोड़ी ही देर अंदर स्थिर करके फिर शनैः शनैः बाहिर छोड़िये तथा बाहिर ही थोडी देर स्थिर रखिये । फिर इसी प्रकार प्राणायाम करते जाइये । इसके अभ्याससे बड़ा लाभ होता है ।

(५०) जानुशिरासन ।



एक पांवकी एड़ीको गुदा और अंडकोशके बीचके स्थानमें जमाकर दूसरा पांव सीधा आगे रखिये । परंतु ध्यान रहे कि जिसकी एड़ी गुदाके और अंडकोशके बीच रही है उसके पांवके तलेसे दूसरी जंघापर अच्छीप्रकार दबाव आना चाहिये । तत्पश्चात् दोनों हाथोंसे उस फैले पांवको पकड कर उसी पांवके घुटनेपर सिर अथवा नाक लगाकर बैठिये । यह आसन भी बड़ा उपयोगी है।(४७ से ५० तकके चार आसन स्त्रियां न करें)

(५१) ऊर्ध्व आकर्षण विधि ।

इन आसनोंके अभ्याससे तारुण्यके समयका वीर्यदोष दूर हो सकता है और वीर्यकी गति ऊर्ध्व मार्गसे हो सकती है । इन आस-

नोंके अभ्यास करनेके समय गुदा और शिस्नके प्रदेशको ऊपर खींचना आवश्यक है। योग्य रीतिसे ऊपर खींचनेके अभ्याससे मलमूत्र विसर्जन ठीक प्रकार होता है, परंतु अयोग्य रीतिसे करनेपर किंवा हठसे अधिक खींचनेपर बकरीके समान गोलीदार शौच होने लगता है। इससे कोई विशेष हानी नहीं है तथापि यह चिन्ह है कि अयोग्य रीतिसे खींचनेका अभ्यास हो रहा है। सम प्रमाणसे गुदाके समेत संपूर्ण उपस्थ प्रदेशको ऊपर खींचना चाहिये, जिससे शौचके लिये कोई कष्ट नहीं होते। थोड़े अभ्यास से ठीक प्रकार सम प्रमाणसे खींचनेकी योग्य रीति स्वयं ज्ञात हो सकती है। यह अभ्यास अन्य समयमेंभी किया जा सकता है। वीर्यकी ऊर्ध्वगति करनेके लिये यही अभ्यास पर्याप्त है। जिनको स्वयं बिनाकारण वीर्यपात होता रहता है, उनको इस अभ्याससे बड़ाही लाभ होता है। इस आकर्षण विधिसेही केवल कई तरुणोंका उक्त दोष पूर्ण रीतिसे दूर होगया है। अन्य अभ्यास बहुतही अधिक करनेपर इंद्रियको शिथिल कर सकते हैं, परंतु इस "उर्ध्व आकर्षण विधि" में किसी प्रकारका दोष नहीं है। तथा हरएक समय इसका अभ्यास हो सकता है। बहुत आदमियोंमें बैठनेके समयमें भी किसीको पता न लगते हुये इसका अभ्यास किया जासकता है। यह इतना सुगम है कि इसमें कठिनताका एक अंशभी नहीं है और बहुतही लाभ है। इस के करनेसे मनकी शक्तिका भी पता लग सकता है। जब आकर्षण नहीं किया जाता, उस समय गुदा और उपस्थ इंद्रियका भाग नीचे चला जाता है; परंतु जब ऊपर आकर्षण किया जाता है, तब गुदासे नाभितक

का संपूर्ण भाग ऊपर आकर्षित होता है । इसके ऊपर आकर्षित होनेसे मनके द्वारा वहांके वीर्यकी भी ऊर्ध्वगति होती है । यही ऊर्ध्वरेता बननेका तत्व है । इसको जो ठीक प्रकार जानेंगे वे ऊर्ध्वरेता तथा अमोघ वीर्य भी बन सकते हैं । यह आकर्षण विधि छोटी आयुसे लेकर वृद्ध अवस्थातक करने योग्य है । जितना किया जाय उतना लाभ प्राप्त हो सकता है । और किसी प्रकारकी हानि नहीं है । अनेकोंके शरीरोंपर इसका अनुभव लिया है ।

(५२) प्राणायाम ।

उर्ध्वरेता बननेके लिये प्राणायाम करनेकी बडी ही आवश्यकता है । प्राणायामसे वीर्यका प्रवाही पतलापन दूर होता है, और वीर्य सख्त होजाता है । प्राणायामविधिकी स्वतंत्र पुस्तक प्रसिद्ध हो चुकी है, पाठक संपूर्ण विधि उसमें देख सकते हैं । यहां अत्यंत सुगम प्राणायाम की विधि बताता हूं । कमरपर हाथ रख कर खडे रहिये अथवा बैठ जाइये । और धीरे धीरे एक गतिसे बीचमें धक्के न देते हुए श्वास लीजिये, पंसलियोंके निचले भागसे गले तक सब छातिमें श्वास पूर्ण रीतिसे भरे और पंसलिया अच्छी प्रकार फैल जायें । श्वास लेनेके समय सिर पीछे कीजिये और छाति आगे फैलाइये । अब किंचिन्मात्र श्वासको अंदर रोक कर उसी वेगसे श्वास को बाहिर छोडिये । इसको उच्छ्वास कहते हैं । उच्छ्वासके समय आप सिरको जरा आगे कीजिये और पेटको अंदर तक जाने दीजिये । सब प्राणवायु के बाहिर चले जानेपर क्षणमात्र उसको

बाहिर ही रखिये और पश्चात् फिर दूसरा प्राणायाम कीजिये। इस प्रकार सबेरे, दोपहरको भोजनके पहिले, शामको और रातको सोनेके पूर्व करना उचित है। प्रथम प्रतिसमय पांचवार करना और तत्पश्चात प्रतिचार दिनमें एकवार बढाना और इसप्रकार प्रतिसमय तीस वार करनेतक संख्या बढाना उचित है। जब प्रतिसमय तीस वार प्राणायाम होगा, तब पूरे दिनमें चारवार में मिलकर १२० वार हो सकता है। भोजन के पश्चात् दो घंटे तक प्राणायाम नहीं करना चाहिये तथा ज्वरित होनेपर भी नहीं करना चाहिये। खांसी आदि विकारों भी नहीं करना चाहिये। यह साधारण प्राणायाम है। इसके साथ पूर्वोक्त आकर्षणविधि भी किया जा सकता है अथवा इच्छा न होनेपर न भी किया जाये। दोनोंके साथ साथ अनुष्ठानसे अपूर्व लाभ होता है। परंतु यदि किसीको कष्ट प्रतीत हो तो वह अलग भी अनुष्ठान कर सकता है।

(५३) आत्मविश्वासका प्रभाव।

हरएक सिद्धिकेलिये आत्मविश्वासका भाव होना ही चाहिये, अन्यथा सिद्धि नहीं हो सकती। यह समझ लीजिये कि सबसे प्रधान साधन आत्मविश्वासही है। दुर्बल मनोवृत्तिवालेको कोई सिद्धि होही नहीं सकती। " मैं निःसंदेह ऊर्ध्वरेता बनूंगा, कितने भी विघ्न आजांये मेरा निश्चय सदाही दृढ रहेगा, और मैं अंततक अनुष्ठान करके ऊर्ध्वरेता और अमोघवीर्य बनूंगा। " ऐसा आत्मविश्वास रखना उचित है। आत्मविश्वास से विहीन पुरुष निर्वीर्य, निःसत्व और कमजोर ही रहेंगे और आत्मविश्वासी जन अभ्युदयको प्राप्त करेंगे।

दूसरी बात यह है कि, अपनी आत्मशक्तिसे ही उक्त सिद्धि प्राप्त करनी है। बाह्य औषधि सेवनादि साधनोंसे कुछ भी नहीं होगा। परोपकारी निःस्वार्थी वैद्य उत्तम उपदेश दे सकता है, परंतु आजकलके जमानेमें उनका मिलना दुर्लभ है। **विज्ञापनी औषधियां सबही इस कार्यके लिये घातक हैं,** इसलिये आत्मविश्वास बढाकर एकनिष्ठासे उक्त साधन करनेसे ही केवल वीर्य दोष दूर हो सकते हैं। तथा जो कार्य स्वशक्तिसे होता है वही अंत तक लाभ दे सकता है।

(५४) प्रकृतिभेदका विचार।

जितने मनुष्य उतनी प्रकृतिकी भिन्नता है। इस कारण वीर्य दोषके शतशः प्रकार हैं। इसलिये सबकी न गिनती हो सकती है, और न सबके लिये उपाय हो सकता है। यहां इस छोटेसे लेखमें साधारण स्थूल मानसे सर्व साधारण हितकी दृष्टिसे आवश्यक मुख्य बातोंका ही केवल उल्लेख करना है। इसलिये अन्य कठिनाइयों का विचार पाठक अपनी परिस्थिति के अनुसार करें और अपने लिये योग्य नियम बनावें। इस समय तक अनेक युवकोंके जो जो अनुभव प्राप्त हुये हैं, उनका तात्पर्य नीचे देता हूं और अनुभव सिद्ध उपाय भी वहांही बताता हूं। उस में अपने प्रकृतिभेदके अनुसार पाठक रद्दोबद्दल करेंगे, तो उनके लिये आवश्यक बोध प्राप्त हो सकता है।

तप—शीत उष्ण, सर्दी गर्मी आदि कष्ट सहन करने के अभ्यासका नाम तप है। इस तपका अभ्यास शरीर के आरोग्यके लिये अवश्य चाहिये। अन्यथा जिस दिन थोडासा धूपमें घूमने

थामनेका काम पड़ेगा, अथवा जिस दिन थोड़ासा अग्नि के पास तपनेका कार्य होगा, उस दिन कइयोंका वीर्यस्राव होजाता है। थोड़े अधिक श्रम करनेके दिन भी श्रमकी उष्णतासे वैसा ही होजाता है। इसलिये इस प्रकारके दोष दूर करनेके हेतुसे शीत उष्ण आदि सहन करनेका अभ्यास शरीरको रखना चाहिये। श्रमका अभ्यासभी अवश्य रहना चाहिये। खुली हवामें मर्दानी खेल खेलनेसे उक्त शक्ति प्राप्त हो सकती है। धूपमें भ्रमण करनेकाभी अभ्यास रखिये तथा शीत सहन करनेका अभ्यास भी आवश्यक है। इस विषयकी बहुतसी बातें पाठक स्वयं सोचेंगे तो उन्हें स्वयं पता लग सकता है। कइयोंका शरीर इतना कोमल हो जाता है कि रातके सोनेके समय ओढ़नेका थोड़ासा कपड़ा अधिक होनेसे भी जो उष्णता होती है, वहभी सहनेकी शक्ति उनमें नहीं होती! ये सब बातें निश्चयके प्रयत्नसे दूर हो सकती हैं और इसविषयसे जो जो दोष होते हैं वे सब दूर किये जा सकते हैं।

अतिभोजन—यह देखा गया है कि रातके समय अति भोजन करनेसे, अजीर्ण होने तक खानेसे, उष्णपदार्थोंका रातके समय सेवन करनेसे स्वप्नदोष हो जाता है। कईयोंको बहुत गर्म दूध रात्रिके समय पीनेसे भी स्वप्नदोष होता है। रात्रिमें पानी कम पीनेसे अथवा कइयोंको पानी अधिक पीनेसे स्वप्नदोष होता है। इसलिये स्वप्नदोषी मनुष्योंको और विशेषतः युवकोंको आवश्यक है कि वे रात्रिके समय कम भोजन करें और जो भोजन करें उनमें गर्म मसाले न हों, उत्तम

सात्विक भोजन हो। करारे तथा चटपटे पदार्थ न खावें। छाबड़ीवालोंको आर्थिक सहायता न दें और अपने स्वास्थ्यका ही ध्यान करें। प्यासकी निवृत्ति करके सो जांये और रात्रिमें किसीप्रकार उष्णताकी बाधा न हो, ऐसी व्यवस्था करें। सोनेके पूर्व लघुशंका से निवृत्त होकरही सोनेका अभ्यास करें और लघुशंका करनेके पश्चात् एकदो लेटे " **अत्यंत ठंडे पानीसे शिस्न और उसके आसपासका स्थान धो दें** ", शिस्नके ऊपर ठंडे पानीकी धारा छोड़ें और अच्छीप्रकार उसको शांत करें, परंतु हाथसे कभी घर्षण न करें। इस विषयमें बड़ी सावधानी रखनी चाहिये। सोनेका बिछौना नर्म न हो।

निद्रा—प्रतिदिन बिस्तरेपर सोतेही निद्रा आनी चाहिये, इतना व्यायाम करें। बिस्तरेपर घंटा घंटा लेटना अच्छा नहीं है। बिस्तराभी ऐसा सख्त हो कि एक पट्टेपर एक दो कंबल। नरम विस्तरा बड़ा ही घातक है। ओढ़नेके लिये पर्याप्त हो परंतु अधिक न हो, तथा यदि कुछ व्यवस्था करके अपने शरीरसे ओढ़नेके आवरण अलग ऊपर रखेंगे तो अच्छा होगा। सर्दीके दिनोंमें ओढ़नेके कपड़ोंका बोझ छातीपर होनेसे भी स्वप्नदोष होनेकी संभावना है। जिस देशमें ओढ़नेके लिये पतले कपड़े ही पर्याप्त होते हैं, वहां कोई व्यवस्था करनेकी आवश्यकता नहीं है। जाग आनेपर और फिर शीघ्र निद्रा लगनेकी संभावना न होनेकी अवस्थामें, बिस्तरेपर वैसेही लेटे रहना अच्छा नहीं है। इसलिये जागते ही उठना योग्य है। परिश्रमी

पुरुषको ६ से ८ घंटेतक निद्रा आती ही है और उतनी पर्याप्त है। ९ या ६ घंटोंसे कम निद्रा आना अच्छा नहीं है।

स्वप्न—निद्रा ऐसी आनी चाहिये कि जिसमें बिलकुल स्वप्न न आवें। शारीरिक परिश्रम करनेवालोंको ऐसी ही आती है। इसलिये शारीरिक परिश्रम उचित परिमाणमें करनेका अभ्यास करना आवश्यक है। परंतु कितनाभी परिश्रम अथवा नियम बद्ध आचरण करनेपर किसी न किसी समय अनियम होताही है, और स्वप्नदोष होकर वीर्य चला जाता है। इसका उपाय यही है कि, ऐसा होते ही उठकर सब भाग निर्मल और विपुल ठंडे पानीसे स्वच्छ धोना और उपस्थ इंद्रियका अग्रभाग विशेष स्वच्छ करना। यदि प्रभात कालका समय समीप आगया हो, तो फिर सोना नहीं और शौचमुखमार्जनपूर्वक शीत उदकसे स्नान करना। यदि अत्यंत सर्दीके दिन हों तो अपनी प्रकृतिके अनुसार कोसे जलसे स्नान करके, सबसे पहिले परमेश्वर कि भक्ति करके, उससे बलकी प्रार्थना करना और मनके विचार शुद्ध करनेका यत्न तथा निश्चय करना उचित है। तथा पूर्वोक्त आसन और अनुष्ठान नियम पूर्वक करनेसे बड़ा लाभ होगा।

शीतजल प्रयोग—वीर्य दोषके लिये शीत जलका उपयोग बहुत ही अच्छा है। यदि प्रतिदिन दो तीन वार शीतजल का स्नान सहा जा सकता है, तो बहुत ही अच्छा है। परंतु ऋतु, काल, अवस्था और शरीरकी हालत ऐसी हो कि उसके कारण एक वार भी शीत जलका स्नान नहीं सहन होसकता है, तो उस

समय अन्य उपाय करना चाहिये । परंतु उष्णकालमें शीतजलका स्नान कमसे कम एकवार करनेका तो अवश्यही अभ्यास करना चाहिये। और यह अभ्यास जहांतक हो सके वहांतक सर्दीमें भी चलाना चाहिये, **परंतु कभी आग्रहसे शीतल जल का स्नान करके ज्वरित होनेकी संभावना नहीं उत्पन्न करनी चाहिये।** शीतल जलके प्रयोगसे वीर्यमें स्थिरता आसकती है, जलमें खूब तैरनेसे बड़ाही लाभ होता है । सब प्रकारके वीर्य दोष हटनेमें बडी सहायता होती है इसका अनुभव देखा है । ठंढे पानीसे कपडा भिगोकर उसे निचोडकर कमरके नीचे के भागपर थोड़ी देर लपेटनेसे भी उस स्थान की गर्मी हट सकती है । अत्यंत ठंडे पानीमें शिस्नका अग्रभाग रखकर, उसके अग्रभागका चमड़ा थोडासा आगे खींचकर उसके अग्रपर आहिस्ते आहिस्ते दूसरे हाथकी अंगुलीसे घर्षण करनेसे बड़ा लाभ होता है । यह सब ठंडे पानीमें ही करना उचित है । शिस्नके अग्र-भाग में सब शरीरके ज्ञानतंतु मिले हैं, इसलिये इस प्रयोगसे सब शरीरमें शांति आती है । यहां ध्यानमें रखना चाहिये कि घर्षण शिस्नके अग्रके चर्मपर ही करना है न कि शिस्नके स्नायु पर । जो पाठक यह प्रयोग करेंगे उन्हें उसीसमय शरीर शांत होनेका अनुभव प्राप्त हो सकता है । इस प्रयोग के लिये बैठने आदिका उचित प्रबंध करनेकी आवश्यकता है । उसकी व्यवस्था अपनी शक्यताके अनुसार पाठक कर सकते हैं । वेदमें शीतल जलके प्रयोगका महात्म्य अनेक प्रकारसे वर्णन किया है । इसका अधिक विचार " **वैदिक चिकित्सा शास्त्र** " में पाठक देख सकते हैं ।

जलका नाम जीवन है, इस लिये इसके उपयोगसे मनुष्य नवजीवन प्राप्त कर सकता है। शिश्न और उसके आस पासका दस अंगुल परिमित स्थान शीतल जलके प्रयोगसे शांत करनेसे आठ दिनके अंदर ही वीर्यदोष हटनेका अनुभव आता है। यह अत्युक्ति नहीं है। शीत जलका प्रयोग स्त्रियाँभी योग्य स्त्रीकी सहायतासे कर सकतीं हैं। बस्तियंत्र द्वारा शीतलजलसे आंतरिक भाग स्वच्छ करनेसे तथा बाह्य स्थानकी निर्मलता करनेसे बहुत लाभ हैं।

स्त्री तथा पुरुषोंको भी शीतल जलसे इस स्थानकी निर्मलता करनेकी बड़ी आवश्यकता है। इस स्थानपर ही सबसे अधिक मल रहता है। स्नान करनेके समय लज्जाके कारण प्रायः इस स्थानको मलीन रख करही लज्जाका रक्षण किया जाता है!! परंतु मलीनताके कारण उष्णता बढ़ती है जो वीर्यको पतला कर देती है। इसलिये विशेष प्रबंध द्वारा इस स्थानकी निर्मलता करना उचित है।

महत्वाकांक्षा—अपनी आयुमें मैं अवश्य कोई न कोई बड़ा कार्य करूंगा, ऐसी भावना मनमें रखिये। इस भावनासे मन उक्त महत्वाकांक्षामें लीन होता है, और कुविचारोंमें नहीं गिरता। राष्ट्रसेवाके पवित्र कार्य, धर्म प्रचारके उद्धारक श्रेष्ठ कर्तव्य, समाज सुधारके ऐहिक अभ्युदयके कर्म, लोक सेवाके सत्कर्म, इत्यादि अनेक महत्व पूर्ण कर्तव्य नव युवकोंके सन्मुख हैं। यदि तरुण विद्यार्थी अपने आपको इन कर्मोंको करनेके लिये समर्पित कर देंगे, अर्थात् मैं विद्वान् बनने के पश्चात् उक्त कार्योंमेंसे इस कार्यके लिये अपने आपको समर्पित करूंगा, ऐसा विद्यार्थीदशामें ही निश्चय करेंगे;

तो उनके मस्तकमें वही महत्वाकांक्षाकी धुन रहेगी और वे कभी वीर्यभ्रष्ट करनेकी आपत्तिमें नहीं फंसेंगे। दीर्घायु प्राप्त करके महत्व पूर्ण कार्य करनेकी महत्वाकांक्षा जिस के अंतःकरणमें दृढ हो जाती है, वही श्रेष्ठ बन जाता है।

हास्य—किसी अवस्थामें मनुष्य रहे अपने आपको हास्यसे दूर न रखे। चेहरेपर उत्साह, हास्य, आनंद, स्मित सदा रहे। आरोग्यकी दृष्टिसे हँसना बहुत अच्छा है। जो तरुण अपने आपको उत्साह, उल्लास, आनंद और हास्यके विचारोंके वायुमंडलमें रखेगा उसको स्वप्नदोष अथवा वीर्यदोष नहीं हो सकते। उसका शरीर आरोग्यकी कांतिसे मंडितही रहेगा और सचमुच वह उत्साहका स्रोत और अपने राष्ट्रके भाग्योदयका कारण बनेगा।

सत्संगति—आप यदि ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहते हैं तो आप एकातमें न रहिये। समूहमें रहिये और आप अपने साथी ऐसे चुन लीजिये, कि जो आनंदी, उत्साही तथा धार्मिक हों, जो सदा उत्तम तथा उच्च विचार ही करते हैं, श्रेष्ठ आचार आचरते हैं और शब्दों द्वारा दिव्यभावनाओंका आविष्कार करते हैं। तरुण अवस्थाके सब दोष साथियोंके कुसंस्कारोंके कारण उत्पन्न होते हैं। इस लिये अपनी उन्नति चाहने वाले सज्जनोंको अपने साथी चुननेमें बड़ी दक्षता धारण करनी चाहिये।

(५५) आधारस्तंभ।

प्रिय पाठको! आप अपने आपको क्षुद्र न समझिये। आप विशाल आर्यजातीके एक मुख्य आधारस्तंभ हैं, आर्यराष्ट्रकी भविष्यदशा आपकी उन्नतिपर निर्भर है, जनताका सुख आपके हृदय

की भावनाओंसे बढ़ना है, इसलिये आपको न केवल अपने स्वास्थ्य- की व्यवस्था करनी चाहिये, प्रत्युत अपने ऊपर जो बड़ी जिम्मेवारी है; उसको पहचान कर, उस कर्तव्यके पालन के लिये अपने आपको योग्य बनाना चाहिये । इसलिये उठिये, हीन विचार छोड़कर अपना भविष्य अपने पुरुषार्थसे अलंकृत कीजिये और जनताकी उन्नतिके लिये आप अपना कर्तव्य करनेको उत्साहित और तत्पर हो जाइये ।

(५६) आत्मोद्धार ।

आपको बिगाड़नेवाला दूसरा कोई नहीं है । यदि आप स्वयं अपने आपका उद्धार करने की इच्छा धारण कर रहे हैं और तदनुसार प्रयत्न करना चाहते हैं, तो संपूर्ण जगत् इकट्ठा हो जानेपर भी आपको नीचे नहीं गिरा सकता । अन्य दुर्व्यसनी लोग आपको इस लिये गिराते हैं कि आप उनको वैसा करनेके लिये सहायता दे रहे हैं । इसलिये आप स्वयं निश्चयका बल धारण कीजिये, और अपने पुरुषार्थ से अपना उद्धार कीजिये । यही उद्धारकी कुंजी है, इससे अपने स्वर्गका ताला खोलकर आप उन्नत हो जाइये । तात्पर्य कि आपके पूर्ण बलसेही ब्रह्मचर्यका पालन होना है ।

इस प्रकार थोड़ेसे अनुभवके नियम यहां बताये हैं, आशा है कि पाठक इनका विचार करके अपनी परिस्थितिके अनुकूल योग्य नियमोंका पालन करके, ब्रह्मचर्यके पालन पूर्वक अपने दीर्घ आयुष्य- अखंड आरोग्य और विस्तृत पुरुषार्थकी सिद्धि की बुनियाद अपने अंदर स्थिर करेंगे; तथा स्वयं आदर्श पुरुष बनकर, अखिल जनताका उद्धार करनेमें अपनी शक्तिका विनियोग करेंगे ।

व्यक्तिमें शांति ! राष्ट्रमें शांति !! जगत्में शांति !!!

ब्रह्मचर्य पालन के तीस नियम।

[श्री. स्वामी शिवानंदजी महाराज द्वारा " ब्रह्मचर्य " नामक एक अत्यंत उपयोगी पुस्तक मराठी भाषामें प्रकाशित हुआ है। यह पुस्तक प्रो. माणिकराव, श्रीजुम्मादादा व्यायाम-मंदीर, बडोदा, के पास मिलता है, मूल्य ॥) आठ आने है। यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी होनेसे पाठकों के लाभके लिये उसका सारांश यहां दिया जाता है। जो सज्जन मराठी भाषा जानते हैं वे स्वयं इस पुस्तक को अवश्य पढें।—संपादक—]

(१) ब्रह्मचर्य ही जीवन है।

" ब्रह्मचर्यही जीवन है और वीर्य नाश ही मृत्यु है। "

वीर्यवान् पुरुषके पास अपमृत्यु आ नहीं सकता, और वीर्य हीन पुरुष सहस्रों उपायोंसे भी बच नहीं सकता, तात्पर्य कि जितना वीर्य का नाश होगा, उतना मनुष्यका शरीर मृत्युके पास पहुंचता है। वीर्यरक्षण करनेसे आरोग्य, शक्ति, तेज, सामर्थ्य, उत्साह, बुद्धि सिद्धि, ऐश्वर्य, प्रभुत्व आदि श्रेष्ठ गुणोंकी प्राप्ति होती है। वीर्यहीन पुरुषही अकाल मृत्युसे मरते हैं, इस लिये ही कहा है कि——

ब्रह्मचारी न कांचन आर्तिमार्च्छति ॥

श. ब्रा. प्र. ११।३।६।२

" ब्रह्मचारीको किसी प्रकारके कष्ट नहीं होते।" वह सदा उत्साही तथा हास्यवदन रहता है। सच कहा जाय तो, वीर्यही अ-मृत है, इस लिये जो मनुष्य इस अमृतको प्राप्त करता है, वही "अ-मर" हो

जाता है । चिरस्मरणीय **भिष्म पितामह** इसी अमृत का सेवन करके “ **इच्छा–मरणी** ” बने थे। जो अपने शरीरमें वीर्यकी स्थिरता रखेंगे, वे भी उसीप्रकार इच्छा मरणी बन सकते हैं। तथा हमभी उसी उपायसे दीर्घ जीवी, प्रभावशाली, उन्नत और स्वतंत्र बनेंगे, इसमें कोई, शंका नहीं है । **परतंत्रताका कारण भोग विलास अथवा वीर्य हीनता है और वीर्यवत्ताही स्वातंत्र्यका कारण** है। आजकल अपने देशमें अपमृत्यु बढ़ रहा है, इसका कारण ब्रह्मचर्यका अभाव है। यदि हम सब वीर्यवान् और ब्रह्मचारी बनें और कमसे काम २९ वर्षोका ब्रह्मचर्य पालन करें, तो निः–संदेह हम सब भाग्यवान् और स्वतंत्र बनेंगे। शरीरमें वीर्य स्थिर रखनेसेही आत्मोद्धार और देशोद्धार होना संभव है।

यदि आपको सुख, विजय, दीर्घ जीवन, और आनंद प्राप्त करना है, तो अपने अंदर वीर्य, शौर्य, ज्ञान, नीति, और आत्माका बल बढ़ाइये। इससे सब कुछ होमकता है। प्रत्येक शरीर में ईश्वरीय आत्मशक्ति वास करती है; तथा दया, क्षमा, शांति, परोपकार की भावना, भक्ति, प्रेम, वीरता, ब्रह्मचर्य, निश्चय, पुरुषार्थ, सत्य, स्वावलंबन तथा कुमार्ग में जानेकी घृणा इन गुणोंके बीज स्वभावतः ही हर-एकके हृदयमें वसते हैं; इसलिये सदाचार द्वारा इन गुणोंका संवर्धन करनेसे निःसंदेह उन्नति हो सकती है और यह सबके आधीनही है।

(२) ब्रह्मचर्यही तप है।

ब्रह्मचर्य अर्थात् वीर्यधारण करनाही श्रेष्ठ तप है । स्वाधीन-वीर्य रखनेवाला अखंड ब्रह्मचारी पुरुष, जो ऊर्ध्वरेता होता है,

वह मनुष्योंमें श्रेष्ठ है। ऋषिमुनियोंके आचरणमें यह बात आचुकी थी परंतु आजकल हम उसको भूल गये हैं, और अवनत होकर अनेक प्रकारके दुःख भोग रहे हैं। जिस देशमें भीष्माचार्य, बलभीम, दत्तात्रेय आदि महातेजस्वी पुरुष हुए, तथा शूर वीर धीर और गंभीर अनेकानेक वीर पुरुष उत्पन्न हुए; वसिष्ठ वाल्मीकि, गौतम, भरद्वाज, अत्रि, पराशर आदि ऋषिमुनि जिस-देशकी शोभा बढाते थे; शिबि, हरिश्चंद्र, रघु, कर्ण, बली आदि महा पुरुष जिस देशमें कार्य करते थे; तथा राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, धर्म, भीम, अर्जुन, नकुल, आदि वीर पुरुष जहां हुए थे; सीता, दम-यंती, सावित्री, अनुसूया, मैत्रेयी, गार्गी, लोपामुद्रा, विदुला, रुक्मिणी, द्रौपदी, सुनीति, शकुंतला, सुकन्या, कयाधु, गांधारी आदि आदर्श स्त्रियाँ जिस देशमें हुई थीं, उसी पवित्रदेशमें हम उत्पन्न हुए हैं। मध्य समयमें भी महाराणा प्रताप, श्री शिवाजीमहाराज, तानाजी मालुसरे, बाजी प्रभु देशपांडे, गुरुगोविंदसिंह, रणजीतसिंह आदि असंख्य वीर उत्पन्न हुए थेः उसी देशमें इस समय हम उत्पन्न हुए हैं। इससे सिद्ध है कि यह देश श्रेष्ठ पुरुषोंको उत्पन्न करनेवाला है। यदि हम उन श्रेष्ठ पुरुषोंका चरित्र हमारे सन्मुख रखेंगे और श्रेष्ठ सत्य नियमोंका पालन करनेका निश्चय करेंगे तो हम भी वैसेही बन सकते हैं। "**स्वयंही अपना उद्धार करना चाहिये कभी ऐसा नहीं करना चाहिये कि जिससे अपना अधःपात हो, क्यों कि हमही अपने बंधु हैं और हमही अपने शत्रु हैं।**" यह श्रीकृष्णचंद्रका वचन सदा ध्यानमें रखने योग्य है।

जिस समय आर्योंमें रामकृष्णादि श्रेष्ठ पुरुष उत्पन्न होते थे, वह ब्रह्मचर्यका काल था, परंतु इस समय ब्रह्मचर्यका अभाव होनेसेही सब अवनति हो रही है। सब अवनतिका यही एक प्रधान कारण है। प्रत्येक मनुष्यका बल, तेज, आरोग्य, सुख, सामर्थ्य, प्रभाव, स्वातंत्र्य, धर्म, यश आदि सब ब्रह्मचर्यके कारण होता है। सबका मूलाधारही यह ब्रह्मचर्य है। जिसमें यह मूल आधारस्तंभ ठीक प्रकार रहता है, उसमें बलादि गुण रहते हैं; परंतु जहां मूल आधारही टूट गया हो, वहां बलादि शुभ गुण स्थिर नहीं हो सकते।

अल्पायु, शरीरमें निस्तेजता, आंखमें दुर्बलता, दृष्टिकी मंदता सब प्रकारकी क्रूरता, बुद्धिभ्रंश, आदि सबका यदि कोई एक कारण है, तो वीर्यभ्रष्टताही है। छातीकी दुर्बलता, दृष्टिमें अंधता, कमरमें अशक्तता, अवयवोंकी शिथिलता, शरीरकी कमजोरी, इतर इंद्रियोंकी क्षीणता, इन सबका मूल कारण ब्रह्मचर्यका अभावही है। आज कलके जवानोंमें बुढापा दीखने का भी यही एक कारण है। यदि जनता ब्रह्मचर्यका अवलंबन करेगी, तो निःसंदेह सब दोष दूर हो सकते हैं।

(३) वीर्यनाशके परिणाम।

(१) जिसका ब्रह्मचर्य भ्रष्ट हुआ है, वह सदा डरता रहता है, बडे आदमीकी आंखके साथ अपनी आंख नहीं मिला सकता, (२) निरुत्साही होजाता है, (३) धीर वीर और आनंद प्रसन्न बालक भी वीर्यभ्रष्टताके कारण हीन और दीन बन जाता है, (४)

मनुष्य क्रूर, सूखा, चिडचिडा और उदास बनता है, (५) कोई दृश्य रोग न होनेपरभी प्रतिदिन क्षीण और दुर्बल होता जाता है, (६) सदा रोगी रहता है और इसी कारण काम भावभी बढ़ता है, "भोग और रोग" साथ साथ ही रहते हैं, (७) पुरुषार्थ करनेकी हिम्मत नहीं रहती, (८) निराशा, चिंता, भय आदि दुर्गुण बढ़ते हैं, चित्तकी दुर्बलता, चंचलता, और मलीन विचारोंकी प्रधानता होती है, (९) शृंगार प्रधान नाटक, उपन्यास आदि पढने, अश्लील चित्र देखने और नाटक, तमाशा और अश्लील सिनेमा आदि देखने की कामना बढ़ती है, (१०) सदा कुसंगतिमें जाने और एकांतमें बैठनेकी प्रवृत्ति बढ़ती है, स्वयंही दुराचारमें प्रवृत्ति होती है, (११) दूसरोंकी ओर बुरी दृष्टिसे देखनेको दिल करता है, (१२) चेहरेपर फोडे फुन्सीयां होतीं हैं, (१३) चेहेरेपर कालिमा बढ़ती है, स्वप्न दोष होने लगता है, (१४) वीर्य प्रतिदिन पतला हो जाता है, (१५) इंद्रियोंमें शिथिलता होती है, (१६) मूत्रमें वीर्य चला जाता है, (१७) नाना प्रकारके वीर्य दोष उत्पन्न होते हैं, (१८) सब प्रकारके पुरुषत्वका नाश होता है (१९) मस्तिष्ककी शक्ति अर्थात् दीमागी शक्ति अत्यंत क्षीण होती है, (२०) सिरमें दर्द, मस्तक हल्कासा होना, स्मरण शक्तिकी क्षीणता, बुद्धिकी मंदता, पागलपन, भ्रम आदि उत्पन्न होते हैं, पागल खानोंमें जितने पागल हैं उनमेंसे सौमें ९९ पागल वीर्य नाशके कारण होते हैं, इतना वीर्य नाशका पागल पनके साथ संबंध है। (२१) चक्कर आना,

चक्कर आकर गिरजाना आदिभी वीर्य क्षीणताका ही परिणाम है, (२१) कोष्ठ बद्धता अर्थात् कब्जी, शौच शुद्धि न होना, शौच पतला होना और वारवार होना, आदि सब दोषोंका कारण वीर्य की क्षीणता ही है, (२३) बवासीर आदि रोगोंका यही मूल कारण है, (२४) निद्रा न आनी, अथवा बहुत सुस्ती आनी, कभी निद्रा पूर्ण होनेका सौख्य न मिलना आदि सबका उक्त कारण ही है, (२५) बहुत भूख लगनी, खानेके पश्चात् भी भूख रहनी, अन्न का अपचन होना, पेट और अतडियोंकी कमजोरी इसी कारण होती है, (२६) चटपटे पदार्थोंकी अभिलाषा होनी और सात्विक भोजनकी इच्छा न होनी, (२७) खटाई और नमकीन पदार्थ बहुत प्रिय लगने, (२८) छातीकी कमजोरी, कफ, क्षय आदि रोगोंकी उत्पत्ति, (२९) प्रतिज्ञा पालनमें दृढता न रहना, मनकी कमजोरी बढजानी, (३०) नाडीकी अनियमित गति होना, (३१) सधियोंमें शिथिलता बढजाना, (३२) शरीरावयव बधिर होना, (३३) अवयवोंमें कप उत्पन्न होना, (३४) हाथ पांव में उष्णता की न्यूनता अथवा अधिकता होनी, (३५) विना-कारण शरीरके भागोंमें अकाल में पसीना आना, (३६) सर्दी गर्मी सहन न होनी, (३७) सब शरीर निसत्व होना, (३८) शरीरमें टेढापन उत्पन्न होना, (३९) खडा रहनेकी भी शक्ति न रहनी (४०) छातीमें गहराई उत्पन्न होना, (४१) वृषण की वृद्धि होना तथा वहांके दोष बढ जाने, (४२) मुखमें दुर्गंध, पसीनेमें दुर्गंध होना, दांतोंके मूलोंमें सूजन और पूय की उत्पत्ति होना,

(४३) शरीर सजानेकी रुची बढ जाना, (४४) बातें बहुत करना, परंतु कर्म कुछभी न होना, (४५) केशोंकी क्षीणता, (४६) केश गिर जाने, (४७) आवाजमें माधुर्य न रहना, (४८) पाप भावनाकी जागृति होना, (४९) प्रकाश सहन न होना, (५०) आंखोंके चारों ओर काला रंग बढ जाना (५१) गालोंपर लालरंग न होना, (५२) शरीरका भार कम होजाना, (५३) चेहरे पर हास्य न होना, इत्यादि अनेक दोष वीर्य क्षीणताके कारण उत्पन्न होते हैं ।

(४) असुरोंके गुरु शुक्राचार्य ।

शुक्र नाम वीर्य का है । वीर्यके विषयमे अर्थात् शुक्रके संरक्षणके संबंधमें विशेष आचार होते है, उनका उपदेश करनेवाले जो होते है, वेही " शुक्र–आचार्य " होते है । वीर्य का संरक्षण करने और बल बढानेका उपदेश करनेका काम करनेवाले ये शुक्राचार्य थे । इनका योग्य उपदेश श्रवण करने और तदनुसार आचरण करनेसेही असुरोंका बल बढगया था, और वे देवोंका पराजय करने लगे थे । इसीलिये देवोंने अपना " कच " उनके पास भेजा और सजीवनी विद्या प्राप्त की । " सं-जीवनी विद्या " शुक्राचार्य के पासही रह सकती है । वीर्यवान पुरुषही जीवन युक्त दिखाई देता है । वीर्यरक्षण करनेका उपाय ही संजीवनी विद्या है । इस विद्यासे युक्त होकर (असु) प्राणोंमें (र) रमनेकी शक्ति प्राप्त हो सकती है । जिसके शरीरमें वीर्य न होगा, उसका प्राण क्षीण होनेके कारण उस क्षीण वीर्य को प्राणके बलका आनन्द प्राप्त नहीं

हो सकता । " **शुक्र** " के " **आचार्य** " के पास **संजीवनी विद्या** होनेका यही तात्पर्य है । इस रूपका भाव अवश्य ध्यान देकर देखने योग्य है । वीर्य धारण करनेसे जीवन और वीर्य नाशसे मृत्यु होता है । वीर्य हीन पुरुष अकालमें ही मर जाता है, परन्तु वीर्यवान् पुरुष अपमृत्युको ही जीत लेता है । पहिले २९ वर्षोंमें अखंड ब्रह्मचर्य रहनेसे मनुष्य बड़ा प्रभाव शाली धैर्यवान्, बलवान्, गुणी, सुबुद्ध, कीर्तिमान्, आत्मिक बलसे संपन्न, और दीर्घायु बन जाता है । जो अपने वीर्यका नाश करता है उसका श्रेष्ठ होना असंभव है । जब उसका ख्याल ब्रह्मचर्य के पास आने लगेगा तभी वह बड़ा बन सकेगा । इसलिये सब ऋषिमुनियोंने वारंवार कहा कि, **ब्रह्मचर्य ही संपूर्ण आरोग्यका मूल है, वही सब ऐश्वर्यका आदि कारण है, और वही सब शारीरिक, मानसिक, और आध्यात्मिक विकासका सच्चा हेतु है** । ब्रह्मचर्यसेही सिद्धि, यश, कीर्ति और स्वतंत्रता प्राप्त होना संभव है । ज्ञानी लोग इसीलिये कहा करते हैं कि, " **जो वीर्यको फेंकता है, उसीको वीर्य काटता है** । " वीर्यमें ही अपने संतान बीज रूपसे रहते हैं, इसलिये स्पष्ट है कि, वीर्य नाश करनेसे अपने संतानोंका ही नाश किया जाता है । इससे स्पष्ट होता है कि कितना घोर अनर्थ वीर्यपातसे होता है ।

(५) सृष्टिका निरीक्षण ।

(१) जो जल्दी परिपक्व होता है, वह शीघ्रही नष्ट होता है । जो वृक्ष शीघ्र फल देता है, वह शीघ्र मर जाता है । इसी-

प्रकार जो मनुष्य जल्दी वीर्यनाश करेगा अथवा शीघ्र संतति पैदा करेगा, वह शीघ्रही मरेगा। (२) घासको अग्नि शीघ्र जला सकता है, वैसा कीकरके वृक्षको शीघ्रतासे नहीं जला सकता। इसीप्रकार जो मनुष्य निःसत्व होगा, उसको मृत्यु शीघ्र ले जायगा, परंतु जो सुदृढ होगा, वह अपमृत्युके वशमें नहीं जायगा। (३) जो बीज उत्तम होता है, उसीसे अच्छा वृक्ष बनता है, सड़े हुए बीजसे अच्छा वृक्ष नहीं हो सकता। इसीप्रकार दोषयुक्त वीर्यसे कदापि संतति अच्छी नहीं हो सकती। (४) अच्छे बीजमें कृमि पैदा नहीं होते, खराब दोषयुक्त बीजमें ही कीड़े पैदा होते हैं। इसीप्रकार जिसका वीर्य दोषमय हो चुका है, उसीको विविधरोग होते हैं। (५) कच्चा घड़ा पानीमें मिलजाता है, क्यों कि उसमें धारणा शक्ति नहीं होती, उसीप्रकार कच्चे वीर्यवाले मनुष्य शीघ्र मर जाते हैं। (६) स्त्रियोंका रजोदर्शन उनके पूर्ण स्त्री होनेका चिन्ह नहीं है इस लिये अपरिपक्व अवस्थामेंही जो स्त्रीपुरुष संबंध होगा, वह क्षीण और दोषी संतान का हेतु होगा। (७) कच्चे फल रसहीन होते हैं, न खिले हुए फूल सुगंध नहीं दे सकते, इसीप्रकार कच्चे स्त्रीपुरुष सुसंतान पैदा नहीं करसकते। (८) सब सृष्टिमें परिपक्वताही दीर्घकाल ठहरनेवाली होती है, इस लिये जो स्त्री पुरुष परिपक्व होनेके पश्चात्‌ही गृहस्थी होते हैं, वेही दीर्घकाल रहते हैं। यह सृष्टिका नियम है।

(६) वीर्य रक्षणके ३० उपाय।

" पवित्र संकल्प " ॥ १ ॥

" श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः । " यह मनुष्य विश्वासरूप ही है । जैसा जिसका विश्वास होता है, वैसाही मनुष्य बनता है। परमात्मा, अपना आत्मा, धर्म, पुरुषार्थ आदिपर विश्वास रखना योग्य है; इससे बड़ा लाभ हो सकता है। विश्वास का बल बड़ा है, परंतु अंधविश्वास नहीं चाहिये ।

अपने अंदर " शुभ संकल्प " बढ़ाने चाहिये । शिव–संकल्प करनेसे पतित अवस्था नहीं प्राप्त होती । पवित्र संकल्प ही ऊपर उठनेके लिये कारणीभूत होते हैं। यह बात सिद्धही है कि हीन विचार पास होनेसे अवस्था हीन बनती है, और उच्च विचार होनेसे उच्च योग्यता होजाती है। क्योंकि " मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः। " स्वतंत्रता और परतंत्रताका वास्तविक कारण मनुष्यका मनही है। बाह्य कारणोंसे कभी कोई गुलाम नहीं बन सकता, जैसा अपने मनके कारण बन सकता है । ब्रह्मचर्यका संरक्षण करनेके लिये भी मन के विचारही कारण होते हैं । मनमें पवित्र विचार रहे तो ब्रह्मचर्य रह सकता है और मनमें हीन विचारोंका आधिक्य हुआ तो ब्रह्मचर्य का नाश हो जाता है । इसलिये अपने विचार पवित्र करनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

अपने विचारोंका निरीक्षण और परीक्षण प्रतिदिन दो तीनवार कीजिये, और जिस समय बुरा भाव मनमें आजायगा, उसीसमय उसको दूर कीजिये। अपने विषयमें संशय न रखिये, पक्का आत्मविश्वास रखिये कि मैं अपने विचार अवश्यही उच्च करूंगा और उच्च बनूंगा। अपने विचारोंका ऐसा आप निरीक्षण करेंगे, उच्चविचारोंके ग्रंथ पढेंगे, श्रेष्ठ पुरुषोंका सहवास करेंगे, तो निःसंदेह आप श्रेष्ठ बनेंगे।

प्रातः काल उठते ही मंगलमय परमात्माका ध्यान कीजिये और उसे अपने हृदयमें विराजमान देखिये। सबेरेसे ही अपने अंदर प्रसन्नता, शांति, आनंद और उत्साह आदि गुण धारण कीजिये; यदि आप दृढ प्रयत्न करेंगे, तो आपका स्वभाव ही अत्यंत प्रसन्न बन जायगा और कष्टके समयमें भी आपके चेहरेपर हास्य दिखाई देगा। इसलिये ऐसा आप प्रयत्न कीजिये।

भोजनके समय क्रोधादि विकार दूर रखिये। यदि आपको क्रोध आया है, तो उस समय भोजन न कीजिये। भोजन के समय आनंद, उत्साह और शांतिसे युक्त मन चाहिये। क्रोधादि दुष्ट विकारके समय किया हुआ भोजन पचन नहीं होता, और अनेक रोग उत्पन्न करता है। क्रोधी मनुष्य शीघ्र ही मरजाता है, इसलिये क्रोधादि शत्रुओं को अपने पास आने नहीं देना चाहिये। यदि आप प्रयत्न करेंगे, तो निःसंदेह आप एक मासमें अपना स्वभाव बदल सकते हैं। प्रयत्न करके देखिये। चित्तकी प्रसन्नता रहनेसे ब्रह्मचर्य रह सकता है। क्रोधादि विकारोंके कारण वीर्यनाश होना संभव है।

सोनेके समय तो अवश्य शुभविचारोंके साथ सोना चाहिये। क्योंकि जो विचार निद्राके प्रारंभमें रहेंगे, वेही निद्राकी समाप्ति तक रहते हैं, इस लिये बुरे विचारोंका सान्निध्य इतने समय करना योग्य नहीं। सोनेके समय आरोग्य पूर्ण और बलवान विचार मनमें रखिये, सामर्थ्यशाली परमात्माका स्मरण करते करते सो जाइये। पक्का विश्वास रखिये कि, स्वप्न आदि दोष मुझे सतायेंगे नहीं, और मैं पूर्ण बलवान् अवश्य बन जाऊंगा। जैसे आपके ख्याल होंगे, वैसाही

आपको अनुभव आजायगा । आपका मन ऐसा प्रभाव शाली है कि, यदि आप पूर्ण निश्चय करेंगे कि, मैं ४॥ बजे उठूंगा, तो निःसंदेह घडी न देखते हुए ठीक ४॥ बजेके समय आपके आंख खुलेंगे । इतना प्रभावशाली मन आपके पास है; इस लिये आप डरें न, और धैर्यसे अपने सुधारका उपाय कीजिये; तात्पर्य ब्रह्मचर्यादिका साधन करनेके लिये सुविचार पास करनेकी अत्यंत आवश्यकता है । इसी लिये वेद कहता है कि—

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभि यजत्राः ॥ स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ ऋग्वेद १।८९।८

" हे देवो ! कानोंसे अच्छे कल्याणमय विचार सुनेंगे, आखोंसे अच्छे पदार्थ देखेंगे, और दृढ अवयवोंसे युक्त बलवान शरीरसे अपनी आयुकी समाप्तितक हम श्रेष्ठोंका हित ही करेंगे । "

तात्पर्य यह कि हम अपनी सब इंद्रियोंको अत्यंत शुभ कर्मोंमें लगायेंगे, और अपना " वायुमंडल " पवित्र, शुद्ध, शुभ और मंगल मय करेंगे । ऐसा करनेसे ही अपना अभीष्ट सिद्ध होगा । अपने आपको आत्मस्वरूप, शरीरसे भिन्न, और शरीरका संचालक समझकर, इस अपने अधिकारकी भावना सदा जीवित और जागृत रखनी चाहिये । ऐसा करनेसे सुगम रीतिसे ब्रह्मचर्यकी सफलता होती है ॥

" मातृभावकी दृष्टि ॥ २ ॥ "

" स्वस्त्रीको छोडकर अन्य स्त्रियोंकी ओर देखनेकी जो पवित्र दृष्टि होती है, वह धार्मिक दृष्टि कहलाती है । छोटी उमरवाली स्त्रीको

देखनेके समय " **पुत्री भावकी दृष्टि** " धारण करनी योग्य है। अपने समान आयुवाली स्त्रीको देखते समय " **बहिन भावकी दृष्टि** " धारण करनी चाहिये, तथा अपनेसे बड़ी उमरवाली स्त्रीकी ओर देखनेके समय " **मातृभावकी दृष्टि** " धारण करनी चाहिये। यही धर्म है। " **परस्त्री मातसमान** " समझना चाहिये, अन्यभाव धारण करना योग्य नहीं है। ब्रह्मचर्य धारण करना है, तो इस दृष्टिका अवलंबन करना अत्यंत आवश्यक है।

जो पूर्ण ब्रह्मचारी रहना चाहते हैं, वे स्त्रीकी ओर दृष्टिक्षेप नहीं करते, और किसीसमय देखना पड़े, तो उस स्त्रीको माता समझकर ही देखते हैं। इससे ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाता है। जो भाव पुरुषोंको स्त्रीके विषयमें धारण करना चाहिये, वैसाही पवित्र भाव स्त्रियोंको पुरुषोंके विषयमें धारण करना चाहिये। अर्थात् अपने पतिको छोड-कर अन्य पुरुषोंकी ओर देखनेके समय आयु की अवस्थाके अनुकूल " **पितृभाव, भ्रातृभाव अथवा पुत्रभाव की दृष्टि** " धारण करकेही देखना उचित है। इस प्रकार स्त्री पुरुष परस्पर व्यवहार करने लगे, तो श्रेष्ठ और पवित्र वायुमंडल शीघ्रही बन सकता है। प्रत्येक स्त्री राष्ट्रकी माता है। इसलिये मातृदृष्टिसे स्त्रियोंकी ओर देखना उचित और योग्य भी है। जब इसप्रकार दृष्टि पवित्र बनेगी, तब विचार और आचार भी पवित्र बन सकते हैं।

" कु-दृश्य-त्याग ॥ ३ ॥ "

बुरे दृश्योंकी ओर देखना नहीं चाहिये। पशुपक्षियोंके बुरे व्यव-हार और अश्लील आचार रास्तोंपर भी होते रहते हैं। मनुष्य जाने

आनेके समय उनकी दृष्टिके सम्मुख ऐसे बुरे दृश्य आजाते हैं ऐसी अवस्थामें उसको उचित है कि, वह अपनी दृष्टिको वहांसे हटाकर अन्य शुभपदार्थकी ओर करे और उस पदार्थकाही विचार करे। फूल, फल, वृक्ष, पर्वत, नदी आदि पर अपनी दृष्टि रखे और बुरे दृश्यपर अपनी दृष्टि न रखे। ऐसा करनेसे बुरे दृश्यका परिणाम नहीं होगा।

स्त्रीपुरुषोंके अंगोंकी ओर बुरीभावनाके साथ कदापि देखना योग्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि, किसी समय अपनी दृष्टि ऐसे बुरे दृश्यमें न गिरे. और सदा अच्छे शुभ और पवित्र दृश्यही दृष्टिके सामने रहें, ऐसा करनेसे बहुतसे दोष हट सकते हैं।

" सीधासाधा रहनासहना ॥ ४ ॥ "

यदि ब्रह्मचर्य रक्षण करनेकी इच्छा है, तो जैसा मन पवित्र रखना चाहिए वैसाही शरीर और वाणी भी पवित्र रखनी चाहिये। कायिक वाचिक और मानासिक पवित्रता रखना ही ब्रह्मचर्य है। " **सीधासादा रहना सहना और उच्च विचार करना** " आवश्यक है, खानेपीनेमें, कपडेलत्ते में चैन, ऐश आराम करनेकी प्रवृत्ति से बडी ही हानि होती है। कपडे बिलकूल सीदे साधे, विशेषतः अपने हाथके सूतके बने हुए हों तो बहुतही अच्छा होगा। खाने पनिके पदार्थभी पवित्र, स्वच्छ और पौष्टिक हों, परन्तु उसमें चटपटे नमकीन आदि न हों। बिलकुल साधारण दालरोटी सबसे अच्छी है। काया वाचा मन में सादगी ही महापुरुषोंका स्वाभाविक लक्षण है। सीधासादा रहना और भोगविलाससे दूर रहना यही ब्रह्मचर्यका साधक है।

" सत्संगति ॥ ५ ॥

" पाप, ताप और दीनता का नाश सज्जन अपने उपदेशसेही करते हैं । " इस लिये सज्जनोंकी संगतिमें ही रहना चाहिये । " जैसी संगती होती है वैसा मनुष्य बनता है । " यह सदाके लिये ही सत्य है । इस लिये अपने मित्र पसंद करनेके समय बडीही सावधानता धारण करनी चाहिये । बुरे मित्रोंकी कुसंगति के कारण बडेबडे पुरुषभी नष्टभ्रष्ट हो चुके हैं, और सज्जनोंकी सत्संगतिसे नीच मनुष्योंकाभी उद्धार हुआ है । विशेषतः ब्रह्मचर्यके पालन करनेके लिये सज्जनोंकी संगति अवश्य ही चाहिये, क्योंकि ब्रह्मचर्य भ्रष्ट होनेका मूल कारण हीन मित्रोंका कुत्सित संगतिमें अर्थात् उनके साथ किये हुए हीन विचारोंमें ही है ।

आज कल अश्लील तमाशे, शृंगारिक नाटक, बीभत्स दृश्य अश्लील सीनेमाके चित्र आदि बहुत बढ गये हैं, पठन पाठनविधिमें अश्लील कथायें आतीं हैं, शृंगारिक उपन्यास विद्यालयोंमें पढाये जाते हैं, भद्दे और घृणित उपन्यास सस्ते मूल्यमें बाजारोंमें मिल रहे हैं, शहरों और नगरोंमें और भी बडे बुरे दृश्य हुआही करते हैं; इसलिये नवजवानोंके ब्रह्मचर्यका प्रश्न प्रतिदिन बडाही कठिन होता जा रहा है । परंतु जब तरुण लोग ही स्वयं अपना रक्षण स्वयं करेंगे और ब्रह्मचर्यका संबंध अपनी आयुके साथ है, यह बात सदा ध्यान में रखेंगे, तो वे ब्रह्मचर्यका पालन निःसंदेह कर सकते हैं ।

ऐसे सन्मित्र होने चाहिये कि, जिनकेपास तरुण विद्यार्थी अपनी अवस्था स्पष्टतासे कह सकें और वे भी तरुणोंको सन्मार्ग

का उपदेश करके उनके कष्ट दूर करनेमें तत्पर हों। इस समय ऐसे सदाचारी पुरुषोंकी इस देशमें अत्यंत आवश्यकता है। सारांश कि यदि आप ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहते हैं, तो अपने मित्र उक्त प्रकारके बनाइये, और कभी दुर्जनोंकी संगतिमें न जाइये।

" पवित्र ग्रंथपठन ॥ ६ ॥ "

जिन ग्रंथोंके पढनेसे सद्विचारोंकी जागृति होती है, बुरे विचार हट जाते हैं, और श्रेष्ठ सुविचार उत्पन्न होते हैं, वे ग्रंथ पवित्र होते हैं। ऐसे ग्रंथ ही पढने चाहिये। जिसमें अश्लील और दुराचार की कथायें नहीं हैं, श्रेष्ठ आचार विचारोंकाही जिसमें कथन है, जिनके पढनेसे मनुष्य श्रेष्ठ आत्मविश्वाससे संपन्न हो जाता है, ऐसे ग्रंथही पठन करने चाहिये।

प्रतिदिन स्नानसंध्या करनेके पश्चात् श्रेष्ठ धर्मग्रंथ का पाठ कीजिये। और जो पवित्र विचार आप पढेंगे, उसको अपनानेका अभ्यास अवश्य कीजिये। ऐसा कभी न हो कि आप उत्तम ग्रंथ पढें और उसको पढ-नेके पश्चात् बिलकुल छोडदें। ऐसा करनेसे व्यर्थ मेहनत हो जायगी। इस लिये पढे हुए सद्ग्रंथका मनन करके उसके अनुसार आचरण करनेका अवश्य यत्न कीजिये।

साधुसंत, महात्मा, लोकोत्तर सदाचरणी सत्पुरुष आदि बोध वचन अपने स्मरण रखिये, वेदके पवित्र मंत्र, उपनिषद्की श्रेष्ठ श्रुति तथा अन्य सद्विचारके सारभूत वाक्य आप अवश्य स्मरणमें रखिये। ऐसा यदि आप प्रयत्न करेंगे तो आपसे ब्रह्मचर्यका पालन निःसंदेह हो जायगा।

"शीतोदक-स्नान ॥ ७ ॥"

उष्ण उदकके स्नानसे ब्रह्मचर्यका पालन होना कठिन होता है, इसलिये ब्रह्मचर्यके लिये शीत उदकका स्नान करना योग्य है। यदि सहन हो सकता है तो शीतजलका स्नान बड़ा लाभदायी हो सकता है। जिसको स्वप्नदोष होते हैं, यदि वह नित्य प्रातःकालमें शीतोदकसे उत्तम स्नान करेगा, तो उसका स्वप्न दोष दूर होगा। आवश्यकता होनेपर दिनमें दो अथवा तीन स्नानभी करनेमें कोई हर्ज नहीं है। परंतु स्नान सहन होना चाहिये। यदि शीत उदकका सहन नहीं होता, तो उपस्थ प्रदेश शीत उदकसे दो तीन वार स्वच्छ धो देनेसेभी बड़ा लाभ हो जाता है।

सब ऋतुओंमें कूएके पानीका स्नान उत्तम है कुएका जल सदा ताजा शीतल और विपुल होना चाहिये। थोड़ेसे जलसे स्नान करनेसे कोई लाभ नहीं होता। सब अंग प्रत्यंगको पूर्ण जलसे अच्छी प्रकार धोना योग्य है। जो भाग अच्छी प्रकार धोया नहीं जाता वह दुर्बल रहता है, और वहांही रोग आकर वसता है। उष्ण कालमें दोवार स्नान करनेका अभ्यास करनेसे बड़े लाभ होते हैं। शरीर कभी मलीन न रखिये, जहां मल रहेंगे वहां उष्णता बढ़ती है और बीमारी बढ़ जाती है। नदी, तालाव और समुद्र का स्नान क्रमशः उत्तमोत्तम है। तैरनेका अभ्यास कीजिये। जलमें बहुत तैरनेवालेको ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। स्नान करनेके स्थानमें विपुल हवा और प्रकाश रहना चाहिये। भोजनके पूर्व तीन घंटे स्नान करना चाहिए। इतना समय न रखेंगे, तो पचनक्रिया बिगड़ जायगी। स्वप्न

दोषके कष्ट जिनको होते हैं उन्हें उचित है कि, वे सोनेके पूर्व मस्तक, हाथ और पांव को ठंडे पानीसे स्वच्छ धोदें, तत्पश्चात् उत्तम स्वच्छ कपडेसे उनको शुष्क करें; तथा छाती, कमर तथा सब गुप्त प्रदेश जलसे अथवा गीले कपडेसे स्वच्छ करें। ऐसा करनेसे और विशेषतः गुप्त प्रदेश के ऊपर शीतलजलका प्रयोग करनेसे निःसंदेह स्वप्नदोष हटजाता है। स्वप्नदोष के साथ कब्जी अवश्य रहती है, इसलिये शीतल जलके साथ स्नान करनेके समय पेटका अच्छी प्रकार मर्दन करनेसे शौच शुद्धि अच्छी तरहसे हो जाती है। इस प्रकार स्वप्न दोष हट सकते हैं।

" अल्पाहार ॥ ८ ॥ "

अतिभोजन करनेसे धातुमें विकार हो जाता है, विशेषतः रात्रिका भोजन परिमित ही चाहिये। अतिभोजनसे अनेक रोग हो जाते हैं। नित्याजीर्ण होनेका कारण अतिभोजन ही है। बहुत भोजन करनेवाला और दिनभर खाते रहनेवाला मनुष्य कदापि ब्रह्मचारी नहीं रह सकता।

हितकारक और पथ्यकारक अन्न परिमित प्रमाणमें खाना चाहिये। कितना भोजन करना चाहिये, यह एक बात बड़े बड़े मनुष्यभी नहीं जानते। यह ज्ञान होना अत्यंत कठिन है। पेटके चार भाग करके दो भाग पेट अन्नसे, एक भाग पेट जलसे भरकर शेष पेट वायुसंचार केलिये खुला रखना चाहिये। दिनमें केवल दोवार ही अन्न खाना उत्तम है, इससे अधिकवार खाना योग्य नहीं है। रसनेंद्रियका संयम करनेसे आरोग्य बढ़ता है और ब्रह्मचर्यभी रहताही है। भोजनमें बहुत पदार्थ न हों। जितने पदार्थ कमहों उतने अच्छे हैं।

जितना अन्न मनुष्य खाता है, उसका तीसरा भाग भी पचन नहीं होता, इसलिये अपचित भागका आम बनता है और वह धातुस्थानमें दोष उत्पन्न करता है । भोजन सादा, लघु, स्निग्ध, रसयुक्त, मधुर और प्रिय हो । आनंदकेसाथ भोजन किया जाय तो लाभदायक होता है । गेहूं, चावल, चना, बाजरा, ज्वारी, शाली, जौ, अरहर, मूग, दूध, दधि, घी, मखन, मीठा, सैंधव, कालीमिर्च, सकरकंद, ताजे और उत्तम रसयुक्त फल इत्यादि पदार्थ सात्विक भोजनमें आते हैं । गर्म मसाले आदि तीक्ष्णरूक्ष और दाह करनेवाले पदार्थ राजसिक होते हैं और ये रोग उत्पन्न करते हैं । जो बडे समयके बने हुए पदार्थ, सडेहुए पदार्थ होते हैं वे तामस होते हैं । ब्रह्मचर्य धारण करनेवालेको केवल सात्विक भोजनही करना योग्य है । मद्यमांसका सेवन करना बहुत बुरा है इस विषयमें अधिक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि सब लोग अब इस बातको जानते ही हैं । निसर्गतः मिलनेवाले पदार्थ स्वाभाविक स्थितिमें भक्षण करना उत्तम है । जितने अधिक संस्कार किये जाते हैं उतने पदार्थ भक्षणके लिये अयोग्य होते हैं । कंद, मूल, फल और दूध अच्छा है । साबित गेहूं और दलिया अच्छा है, मैदा सबसे बुरा है । इससे निसर्ग निर्मित आहारका पता लग जायगा ।

केवल दो वार ही भोजन करना उत्तम है । रात्रौ भोजन न करनेसे स्वप्नदोष बहुतसा दूर होजाता है, आवश्यकता होनेपर थोडासा दूध किंवा अल्पाहार करना । जो एकभुक्त रहता है वह सदा रोगमुक्त होता है, कमसे कम उसे बहुत कम रोग होते हैं । अन्न अच्छीप्रकार चबाकर

खाना चाहिये । भोजनके पश्चात् एक घंटा मानसिक अथवा शारीरिक श्रम करना योग्य नहीं है तथा अतिश्रम करनेपर उसी समय भोजन करनाभी बहुत बुरा है । भोजनके पूर्व, पश्चात् और बीचमें शुभ विचार ही मनमें रखने योग्य हैं । क्रोध, लोभ और भय आदिसे शरीरमें विष उत्पन्न होता है। भोजनके समय जलपान न करना उत्तम है। भोजनके पश्चात् एक घंटेके बाद जलपान करना लाभ दायक है । भोजनमें पकौड़े और चटपटे पदार्थ उपयोगी नहीं हैं। चा, काफी, मिठाई, खटाई सब छोड़ने योग्य हैं। नियमित समयमें भोजन करना चाहिये और अन्य समयमें कुछभी न खाना अत्यंत उत्तम है। चलनेके समय अथवा लेट कर भोजन करना बहुत बुरा है। भोजनके समय स्वच्छ वस्त्र पहना उत्तम है। भोजनके पूर्व नाखून और हाथ स्वच्छ करना योग्य है, नाखूनोंमें जो मल रहता है बड़ा विषरूप होता है। वह विष पेटमें जाकर विविध रोग उत्पन्न करता है। भोजनके पूर्व हाथ, पांव धोकर साफ कीजिये तथा आंख, नाक आदि सिरके इंद्रियोंको अच्छी प्रकार जल लगाइये, और मुख, दांत और जिव्हा खूब साफ कीजिये। भोजनके पश्चात्भी अच्छी प्रकार मुखकी स्वच्छता करनी चाहिये। प्रातःकालमें कुछभी नहीं खाना चाहिये । शौचसे निवृत्त होते ही अन्न खाना अपाय कारक है। भोजनोत्तर टहलना लाभदायक है, पश्चात् किंचित् विश्राम करना चाहिये । भोजनका स्थान स्वच्छ, हवा और प्रकाशसे युक्त तथा उत्तम आरोग्य-दायक हो।

पीने योग्य जल वह होता है कि जो स्वच्छ, निर्गंध और शीत होता है, जो सूर्य प्रकाशसे पवित्र हुआ है। दिन रात्रिमें दोन तीन सेर पानी पीना चाहिये। ऋतुकालके अनुकूल न्यूनाधिक करनाभी आवश्यक है। जल कम पीनेवालोंको बद्धकोष्टता होती है। जल छानकरही पीना चाहिये और छाननी प्रतिदिन स्वच्छ रखनी चाहिये। जल भी थोडाथोडा पीना चाहिए। प्यास लगनेके पश्चात् पानी पीना उत्तम है। बर्फ, सोडा, लेमोनेड आदि पेय बहुतही खराब हैं। सोनेके पूर्व थोड़ा जलपान आवश्यक हो तो कीजिये। तथा जागते ही थोड़ा "उषःपान" करनेसे शौचशुद्धि ठीक होजाती है। तांबेके बर्तनमें रखा हुआ जल पीनेके लिये अच्छा होता है। ऐसा खानपान करनेसे स्वप्नदोष दूर होजाते हैं।

"उपवास ॥ ९ ॥"

अजीर्णसे शरीरमें अनेक रोग होते हैं। अजीर्णका नाश करनेके उपाय औषधसेवन नहीं हैं, परंतु उपवास करनाही है। औषधी-सेवन करनेसे वीर्यदोष होते हैं, परंतु उपवाससे वीर्य दोष न्यून होते हैं। उपवाससे न केवल शरीर शुद्ध होता है, प्रत्युत मनभी पवित्र होता है। उपवास करनेके समय शुद्ध जल जितना आवश्यक हो, उतना पीना चाहिये। योग्य समयमें उपवास करनेसे स्वप्नदोष हट जाते हैं। यदि अन्न वर्जन पूर्वक उपवास करना अशक्य हो, तो फलोंका रस थोड़ासा पीना उत्तम है। परंतु वहभी अत्यंत अल्प। अपचित आम पेटसे दूर करना और इस उपायसे स्वप्नदोष हटाना उपवाससेही सिद्ध होता है। अन्य उपाय इससे कम हैं।

उपवासके पश्चात् दुग्धाहार तथा अत्यंत सुपच लघुभोजन करना प्रशस्त है ।

" दो वार मलमूत्रविसर्जन ॥ १० ॥ "

शौचका अवरोध करनेसे वीर्यनाश हो जाता है । इसलिये मल-मूत्र विसर्जन करनेकी प्रेरणा हुई तो अवश्य बाहिर जाकर स्वच्छता करनी चाहिये । मलमूत्रके वेगोंको दबाना कदापि योग्य नहीं । ऐसा नियम करना चाहिये कि, दोवार ही मलमूत्र विसर्जन करना पड़े । वारंवार शौच जाना भी हानि कारक है । बलसे शौच की प्रवृत्ति बढ़ानेसे बवासीर हो जाता है । सबेरे शौचके पूर्व शीत अथवा उष्ण जल थोड़े नमकके साथ पीने और पेटकी मालिश करनेसे सब प्रकारकी कब्जी आठ दिनमें निःसंदेह दूर हो जाती है । थोड़े दिनोंके पश्चात् फिर इस प्रकार पानी पीनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती । नियमित व्यायाम और योग्य प्राणायाम करनेसे कोष्टबद्धता दूर हो जाती है । पतला, अथवा सख्त शौच बुरा है, शौचको देरभी नहीं लगनी चाहिये, शौचके समय आवाज होना भी बुरा है । शीघ्रही सर्पाकृति शौच होना चाहिये । कामविकार उत्पन्न होने लगा तो मल-मूत्र विसर्जन कीजिये और शीतल जलसे सब गुह्य प्रदेश स्वच्छ कीजिये । ऐसा करनेसे बड़ा लाभ होगा ।

" जननेंद्रिय का स्नान ॥ ११ ॥ "

जननेंद्रिय शीतल जलमें रखकर उसको अच्छी प्रकार शीतल करनेसे सब शरीर और मन शांत हो जाता है और स्वप्न दोष दूर हो जाते हैं । प्रत्येक वार मूत्र करनेके समय शीतलजल लोटा भर

साथ रखिये और शिस्नको अच्छी प्रकार धोकर शीतल कीजिये; शौचके समय में भी बहुत जलका उपयोग करके दोनों द्वारोंकी निर्मलता करनी चाहिये। अन्य समय जनन इंद्रिय को स्पर्श करना नहीं चाहिये, तथा धोनेके समय भी घर्षण करना कदापि उचित नहीं है।

" जलदी सोना और जलदी उठना ॥ १२ ॥ "

रात्रिमें ९॥ बजे सोना और प्रातःकाल चार बजे उठना योग्य है। इसमें थोडा न्यूनाधिकभी कर सकते हैं। चार बजे उठनेके पश्चात् फिर सोना योग्य नहीं है। नाटक तमाशे आदि देखनेमें कालका अपव्यय करना कदापि योग्य नहीं है। सोनेका स्थान स्वच्छ, खुला, शुद्ध हवासे युक्त, प्रकाशमय होना चाहिये। बिछौना नरम न हो, सख्त हो, इससे स्वप्न दोष नहीं होते। ओढने आदिके सब कपडे स्वच्छ और निर्मल चाहिये। ६, ७ घंटोंसे अधिक निद्राकी आवश्यकता नहीं है। दिनमें सोना बहुत बुरा है। सोनेके कमरेमें जलता दीप रखना योग्य नहीं है। रात्रिके भोजनके दो तीन घंटे पश्चात् सोना अच्छा होता है। सोनेके पूर्व मूत्रत्याग करना अच्छा है, तथा इस समय अवश्य जनन इंद्रियका स्नान करना चाहिये।

" लंगोट बंद रहना ॥ १३ ॥ "

लंगोट सदा स्वच्छ और पतले कपडेका हो। मोटे कपडेका होनेसे उष्णता बढ जाती है और परिणाम बुरा होता है। पतले कपडेका लंगोट बर्तनेसे बहुत लाभ होता है और ब्रह्मचर्य रहने में सहायता होती है।

" निर्व्यसनता ॥ १४ ॥ "

चा, काफी, सिगारेट, तमाखू, मद्य आदि सभी दुष्ट व्यसन बहुत बुरे हैं। सब प्रकारके दुर्व्यसन ब्रह्मचर्यके घातक हैं। इसलिये हरएक प्रकारका दुर्व्यसन सदा दूर रखना योग्य है। चा काफीसे बद्ध कोष्ठता बढ़ती है, तमाखूसे वीर्य दोष उत्पन्न होता है, तथा इतर व्यसनोंसे रक्तदोष बढ़ते हैं। इसलिये श्रेष्ठ बननेकी इच्छा करनेवालोंको उचित है कि, वे कदापि किसीभी दुष्ट व्यसनमें न फँसे।

" एकान्त त्याग ॥ १५ ॥ "

जो तरुण वीर्यदोषसे दुःखी हैं, वे कभी एकांत सेवन न करें, अच्छे पुरुषोंके सहवासमें ही रहें। सोनेके समयमेंभी कमरेमें एकांतमें न सोवें।

" दिन चर्या लिखना ॥ १६ ॥ "

" कृतं स्मर " अपने किये हुए कर्मका स्मरण कर ऐसा वेद कहता है। इसलिये अपनी दिनचर्या लिखनेका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। मैं कैसा था और अब कैसा हूं इसका इससे पता लग जाता है, और सुधरनेका मार्ग विदित होता है।

" प्रतिज्ञा-पालन ॥ १७ ॥ "

जो प्रतिज्ञा की है उसका पालन करनेका निश्चय कीजिये, ऐसा करनेसे निश्चयका बल आपके अंदर बढेगा, और निश्चयका बल बढ़ जानेसे आत्मशक्ति विकसित होकर ब्रह्मचर्यका पालन आपसे होगा।

" उच्चध्येय और श्रेष्ठ आदर्श ॥ १८ ॥ "

अपने मनके सामने उच्च ध्येय और अत्यंत श्रेष्ठ आदर्श रखना

चाहिये । उस आदर्श अवस्थातक पहुंचनेकी पराकाष्टा करनेसे मनके सब व्यापार श्रेष्ठही होते हैं, और अवनति नहीं होती । श्रेष्ठ पुरुषोंके चरित्र पढ़ने और वैसा ही श्रेष्ठ बननेका अभ्यास करनेसे बड़ा लाभ होता है । इस अभ्याससे मनमें पतित विचार नहीं आते ।

" सतत उद्योग ॥ १९ ॥ "

अपने आपको सतत किसी न किसी सत्कर्ममें ही लगाना चाहिये, कोई समय खाली न रखिये । कर्महीन मन हुआ तो, वह बुरे विचारोंमें गिरने लगता है । आलस्य ही बड़ा शत्रु है और उद्योग परममित्र है । पुरुषार्थी मनुष्य ब्रह्मचर्य पालन कर सकता है ।

" खडावोंका उपयोग ॥ २० ॥ "

पांवोंमें खड़ावोंका उपयोग करनेसे ब्रह्मचर्यका साधन होनेमें सुविधा होती है । इसमें नसोंका संबंध है । चाहे बाहिर जानेके समय जूते बर्ते जांय, परंतु घरमें तो खड़ावोंका उपयोग अवश्य किया जावे ।

" शुद्ध वायु सेवन ॥ २१ ॥ "

शुद्ध हवा अत्यंत आरोग्यकरी है । वायुही अमृत है । शुद्ध जल, शुद्ध वायु, शुद्ध भूमि, विपुल प्रकाश और विपुल अवकाश ये पांच अमृत हैं । येही " पंचामृत " कहलाते हैं । इस पंचामृतके सेवनसे अपमृत्यु हटजाता है । प्रतिदिन ७।८ मील शुद्ध वायुमें भ्रमण करना आवश्यक है, इससे अनेक लाभ हैं । पहाडीपर, नदीके किनारे अथवा शुद्ध प्रदेशमें सबेरे सूर्य प्रकाशमें भ्रमण करनेके समय ऐसा प्रतीत होता है कि निसर्ग देवता अपने शरीरमें ब्रह्मचर्य, आरोग्य, मनोनिग्रह, आनंद, पवित्रता, प्रसन्नता, बल, तेज, सामर्थ्य, शांति आदिकी स्थापना कर रही है ।

" नियमितता ॥ २२ ॥ "

हरएक कार्य नियत समयमें नियतरीतिसे करनेका अभ्यास अच्छा लाभदायक होता है। यम नियम पालन करनेका यही साध्य है। नियमोंको तोड़कर मन मानी रीतिसे कार्य करनेवाला मनुष्य व्यर्थ आयु खोता है। खाना पीना, उठना बैठना सब ही नियम पूर्वक होना आवश्यक है।

" स्वधर्मानुष्ठान ॥ २३ ॥ "

धैर्य, सहन शक्ति, मनोनिग्रह, अस्तेय, पवित्रता, इंद्रियदमन, सद्‌बुद्धि, ज्ञान, सत्य, अक्रोध ये दश लक्षण धर्मके हैं। सदाचार यह एकही धर्मका लक्षण है। तथा जो धर्मके अन्य लक्षण हैं उन सबका यथा योग्य पालन होना चाहिये। मनुष्यकी श्रेष्ठता धर्मपालनसे होती है। व्यक्तिमें शांति और समाजका अभ्युदय धर्मसे होता है। इसलिये ऐसे धर्मनियमोंका योग्य रीतिसे पालन होना अत्यंत आवश्यक है। धर्मका पालन करनेसे वह धर्मही हमारा रक्षण कर सकता है।

" आत्मविश्वास ॥ २४ ॥ "

दुर्बलता छोड़कर आत्मविश्वास धारण करना चाहिये। हीन और दीनताके विचार दूर करने चाहिये। मैं बालक आत्मा हूं और मैं ही यहांका कर्ता हूं, इस विचारको सदा मनमें धारण करना चाहिये। मैं पुण्यात्मा, बलवान्, श्रेष्ठ, सदाचारी, ब्रह्मचारी, और नीरोगी अवश्य बनूंगा। अनेक प्रयत्न करके मैं अपनी उन्नति अवश्य सिद्ध करूंगा। ऐसा विचार सदा मनमें धारण करनेसे अनेक विघ्न दूर हो जाते हैं।

" विषयोंमें दोषदृष्टि ॥ २५ ॥ "

इंद्रियोंके विषयोंसे कितने अनर्थ हो रहे हैं, इसका विचार करके विषयाधीन न होना और विषयोंको अपने आधीन करना चाहिये । भोगी जीवनका त्याग और त्यागपूर्ण जीवनका अवलंबन करना योग्य है ।

" अपवादकी भीति ॥ २६ ॥ "

ब्रह्मचर्य न रहा, बुरा आचरण हुआ, तो लोग दोष देंगे, ऐसी भीति मनमें धारण करके कभी बुरे मार्गसे न जानाही अच्छा है । अच्छा कार्य करते हुए किसीने दूषण दिया तो उसकी पर्वाह करनी नहीं चाहिये ।

" प्राणायाम ॥ २७ ॥ "

सिद्धासन लगाकर " पूरक कुंभक रेचक प्राणायाम क्रमशः " एक, चार और दो " के अनुपातसे करनेसे वीर्य सख्त हो जाता है और वीर्य दोष बंद हो जाते हैं । मन स्थिर और शांत होता है और मनमें कुविचार नहीं आते । ब्रह्मचर्य रक्षण के लिये प्राणायाम अत्यंत उपयोगी है । योग्य प्राणायामके योग्य और नियम पूर्वक अभ्याससे स्वप्न दोष आदि सब दोष दूर हो जाते हैं ।

" नियमित व्यायाम ॥ २८ ॥ "

व्यायाम करनेसे शरीरसे पसीना जाता है और सब मल दूर हो जाते हैं । रक्त निर्दोष होता है । रुधिराभिसरण सब शरीरमें ठीक हो जानेसे सब अवयव सुडौल और पुष्ट बन जाते हैं । खेलना तैरना, तथा अन्य व्यायाम करना ब्रह्मचर्यके लिये आवश्यक हैं ।

व्यायाम करनेसे शरीरमें वीर्य स्थिर हो जाता है और नसनाड़ीकी शक्ति बढ़जाती है । इसलिये ब्रह्मचर्य धारण करनेवाला पुरुष अवश्य व्यायाम करे । व्यायामके समय नाकसे ही श्वास लेना चाहिये । प्रतिदिन दो वार व्यायाम करना उत्तम है । अपनी शक्तिके अनुकूलही व्यायाम करना चाहिये अधिक नहीं । पसीना आतेही उसको कपड़ेसे पोंछना चाहिये । भूख लगनेपर व्यायाम करना नहीं चाहिये । व्यायामके समय सिर और छाती सीधी रखनी चाहिये । बलका ध्यान करके ही व्यायाम करना चाहिये । ऐसा करनेसे ब्रह्मचर्य साधनमें बड़ा लाभ होता है ।

" ईश्वर भक्ति ॥ २९ ॥ "

एक ईश्वरकी भक्ति और उसकी अनन्य भावसे उपासना करनी अत्यंत आवश्यक है । इससे अनंत लाभ हैं । ब्रह्मचर्य के लिये इससे बहुत ही लाभ होते हैं । इसलिये ब्रह्मचर्य रखनेवाले अपने अंदर भक्तिकी अवश्य वृद्धि करें ।

" नित्य नियमावलोकन ॥ ३० ॥ "

जो जो आचारके श्रेष्ठ नियम हों उनका तत्काल आचरण करनेका नियम करना चाहिये । नियम पालनमें शिथिलता होगी, तो सब दोष उत्पन्न होंगे, और ब्रह्मचर्य पालन कदापि नहीं होगा । प्रतिदिन विचार करके अपना सुधार करनेका निश्चय करना चाहिये । इस प्रकार करनेसे सब प्रकार की उन्नति सिद्ध हो सकती है ।

ॐ शांतिः । शांतिः । शांतिः ।

ब्रम्हचर्य-विषय-सूची।

केन उपनिषद् ।

(१) **भूमिका**—उपनिषद्का अर्थ, "**केन**" शब्दका महत्व, केन उपनिषद्का सार, शांतिमंत्रोंका विचार, केनसूक्तका आशय, केनसूक्तकी विशेषता, केन का ईश उपनिषद्से संबंध, "**यक्ष**" कौन है ?, "**हैमवती उमा,**" पार्वती-पर्वतकी लडकी, "**इंद्र**" कौन है ?

(२) **केन उपनिषद्का** अर्थ और मनन । अग्निका गर्व हरण, वायुका गर्व हरण, इंद्रका गर्व हरण, ब्रह्मका संदेश ।

(३) **अथर्ववेदीय केनसूक्तका** अर्थ और मनन । स्थूल-शरीर, सूक्ष्मशरीर, ज्ञानेंद्रिय कर्मेंद्रिय, रुधिर, प्राण, मन, वाणी, कर्म, मेधा, श्रद्धा, समष्टिव्यष्टि (चित्र), ब्रह्म प्राप्तिका उपाय, अथर्वाका सिर, देवोंका कोश, ब्रह्मकी नगरी, '**अयोध्या**' आठ-चक्र, आत्मवान् यक्ष, अपनी राजधानीमें ब्रह्मका प्रवेश ।

(४) **देवी भागवत की देवतागर्वहरण की कथा** । मतमतांतरके झगडे, अग्नि, वायु, इंद्र के गर्वका निराकरण, शाक्त मतका वेदके सूक्तोंसे संबंध, शुद्ध शाक्तमतका वेदमें मूल ।

इतने विषय इस पुस्तकमें हैं । सब विषयोंका सप्रमाण स्पष्टी-करण किया है । मूल्य १।) सवा रु. ।

मंत्री—स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा).

योग–साधन–माला।



' वैदिक धर्म ' वास्तवमें आचार प्रधान धर्म है। वेदका उपदेश केवल मनमें धारण करनेसे, वेदके मंत्रोंका अर्थ समझनेसे, अथवा वैदिक आशयको केवल विचारमें रखनेसे कोई प्रयोजन नहीं निकल सकता, जब तक उस उपदेशके अनुसार आचरण नहीं होगा।

' वैदिक उपदेशका तत्व ' आचरणमें लानेके उद्देशसे ही ' योग शास्त्र ' का अवतार हो गया है। प्राचीन कालमें ' योग साधन , का अभ्यास सर्व साधारणतः आठ वर्षकी अवस्थामें प्रारंभ किया जाता था। विशेष अवस्थामें इससे भी पूर्व होता था। आठ वर्षकी बालपनकी आयुमें योग साधनका प्रारंभ होनेसे और गुरुके सन्निध रहकर प्रतिदिन योग साधन करनेसे २९।३० वर्षकी अवस्थामें ब्रह्मसाक्षात्कार होना संभव था। अथर्व वेद (कां. १०।२।२९) में कहा है कि " जो इस अमृत–मय ब्रह्मपुरीको जानता है, उसको ब्रह्म और इतर देव इंद्रिय प्राण और प्रजा देते हैं। " अर्थात् पूर्ण दीर्घ आयुकी समाप्तितक कार्यक्षम और बलवान इंद्रिय, उत्तम दीर्घ जीवन, और सुप्रजा निर्माणकी शक्ति,

ये तीन फल ब्रह्मज्ञानसे मनुष्यको प्राप्त होते हैं। यदि योग्य रीतिसे 'योग साधन' का उत्तम अभ्यास हो गया, तो ब्रह्मचर्य समाप्ति तक उक्त अधिकार प्राप्त होना संभव है।

इस समय योग साधनके अभ्यासका क्रम बतानेवाला गुरु उपस्थित न होनेके कारण कईयोंकी इस विषयकी इच्छा तृप्ति नहीं हो सकती। इस लिये " **योग-साधन-माला** " द्वारा योगके सुगम तत्वोंका अभ्यास करनेके साधन प्रकाशित करनेका विचार किया है। आशा है कि पाठक इससे लाभ उठायेंगे।

इस मालाकी पुस्तकोंमें उतनाही विषय रखा जायगा कि जितना अभ्याससे अनुभवमें आचुका है। पहिले कई सालतक अनेक मनुष्योंपर अनुभव देखनेके पश्चातही इस मालाकी पुस्तकें प्रसिद्ध की जाती हैं। इस लिये आशा है कि पाठक स्थायी ग्राहक बनेंगे और अभ्यास करके लाभ उठायेंगे।

इस " योग-साधन-माला " के पुस्तक एकही बार पढने योग्य नहीं होते, परंतु वारंवार पढने योग्य होते हैं। तथा इनमें जो मंत्र दिये जाते हैं उनका निरंतर मनन होना आवश्यक है। पाठक इस बातका अवश्य ध्यान रखें।

इस समय तक इस मालाके निम्न पुस्तक, प्रसिद्ध हो चुके हैं---

संध्योपासना.

इस पुस्तकमें निम्न विषयोंका विचार किया है—

भूमिका—संध्योपासनाके विषयमें थोडासा विवेचन, संध्याका अर्थ क्या है, क्या संधिसमयका संध्यासे कोई संबंध है, संध्या दिनमें कितनी वार करना चाहिए, संध्या कहां करना चाहिए, संध्याका समय और स्थान, संध्यामें आसनका प्रयोग, प्राणायामका महत्व, संध्याके अन्य विधि, विशेष दिशाकी और मुख करके ही संध्या करना चाहिए या नहीं, स्वभाषामें संध्या क्यों न की जावे, संध्याके विविध भेद, यह संध्या वैदिक है वा नहीं, सप्त व्याहृतियोंका वेदसे संबंध, भूर्भुवः स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं, खं, ब्रह्म, संध्या करनेवाले उपासकके मनकी तैयारी.

संध्योपासना—आचमन, अंगस्पर्श, मंत्राचमन, इंद्रियस्पर्श, मार्जन, प्राणायाम, अघमर्षण, मनसापरिक्रमण, उपस्थान, गुरुमंत्र, नमन.

संध्योपासनाके मंत्रोंका विचार—पूर्व तैयारी, प्रथम आचमन, आचमनका उद्देश और फल, आचमनके समय मनकी कल्पना, सत्य यश और श्री, अंगस्पर्श, इंद्रियस्पर्शका उद्देश, अंगस्पर्श करनेका विधी, अंगस्पर्श और योगके कोष्टक, संध्या और दीर्घ आयु.

संध्याका प्रारंभ—मंत्राचमन, इंद्रियस्पर्श, हृदय और मस्तक, मार्जन, सप्त व्याहृतियोंके अर्थ, मार्जन, व्याहृतियोंका कोष्टक, प्राणायाम, यज्ञ, प्राणायामसे बलकी वृद्धि, अघमर्षण, उत्पत्ति और प्रलयका विचार, ऋत, सत्य, तप, रात्री, समुद्र, अर्णव संवत्सर, मनसापरिक्रमण, दिशा कोष्टक १, दिशा कोष्टक २, दिशा कोष्टक ३, दिशा कोष्टक ४, दिशा कोष्टक ५, प्रतीची और प्राची, अधिपति, रक्षिता, इषु, जंभ (जबडा). व्यक्तिका जबडा और समाजका जबडा, प्रगतिकी दिशा, दक्षताकी दिशा,

विश्रामकी दिशा, उच्च अवस्थाकी दिशा, स्थिरताकी दिशा, उन्नतिकी दिशा, मनसा परिक्रमणका हेतु, उपस्थान, उत्, उत्तर, उत्तम, उपस्थानका द्वितीय मंत्र, उपस्थानका तृतीय मंत्र, उपस्थानका चतुर्थ मंत्र, उपस्थानका अंग-स्पर्शके मंत्रोंसे संबंध (कोष्टक), ब्रह्मज्ञानका फल, गुरुमंत्र, जपके समय मनकी अवस्था, नमन, ' मैं ' पनका भान, मातृप्रेमसे ईश्वरके पास पहुंचना.

इस ' संध्योपासना ' पुस्तके अंदर इतने विषय हैं । इन विषयोंको देखनेसे इस पुस्तककी योग्यताका ज्ञान हो सकता है । अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है ।

कागज और छपाई बहुत बढिया है । मूल्य १॥) डेढ रुपया है । शीघ्र मंगवाइए । (तृतीयवार मुद्रित)

संध्याका अनुष्ठान ।

इस पुस्तकमें, संध्याके प्रत्येक मंत्रके साथ अष्टांग योगका जो जो अनुष्ठान करना आवश्यक है, दिया है । इस प्रकार संध्याका अनुष्ठान करनेसे संध्याका आनंद प्राप्त हो सकता है । मूल्य ॥) आठ आने है ।

वैदिक प्राण विद्या ।

यह योग-साधन-मालाकी तृतीय पुस्तक है । मूल्य १) रु. है ।

ब्रह्मचर्य (सचित्र)

यह योग-साधन-मालाकी चतुर्थ पुस्तक है । इसमें ब्रह्मचर्य साधनकी योग क्रिया बताई है । मूल्य १।) है ।

मंत्री—स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा).